॥ ओ३म् ॥

आर्य-संसार

वार्षिक विशेषांक-१९९९

पं० गुरुदत्त लेखावली

•

व्याख्याता :

मुनिवर पं० गुरुदत्तजी 'विद्यार्थी'

•

सम्पादक :

प्रो० उमाकान्त उपाध्याय, एम० ए०

•

प्रकाशक :

आर्य समाज कलकत्ता

॥ ओ३म् ॥

आर्य-संसार विशेषांक

पौष
२०५६ वि०

नवम्बर-दिसम्बर
१९९९ ई०

वर्ष ४१

मूल्य :
इस प्रति का
१५ रुपये

वार्षिक ३० रुपये

वार्षिक विशेषांक-१९९९

पं० गुरुदत्त लेखावली

•

व्याख्याता :

मुनिवर पं० गुरुदत्तजी 'विद्यार्थी'

सम्पादक :

प्रो० उमाकान्त उपाध्याय, एम० ए०

प्रकाशक :

आर्य समाज कलकत्ता

१९, विधान सरणी, कलकत्ता-६

दूरभाष : २४१-३४३९

आर्यसमाज कलकत्ता की स्थायी गतिविधियाँ

१. दैनिक यज्ञ-प्रतिदिन प्रातः ७ बजे सन्ध्या मंत्र पाठ एवं यज्ञ ।
२. साप्ताहिक सत्संग-प्रत्येक रविवार प्रातः ८ से ११ बजे तक । यज्ञ कथा व्याख्यान ।
३. बाल सत्संग-प्रत्येक रविवार प्रातः ८ से ९ बजे तक ।
४. वेद सप्ताह - प्रतिवर्ष श्रावणी से जन्माष्टमी तक । प्रातः ७ से ९ तक वेद पारायण यज्ञ एवं सायं ७ से ९ तक वेद कथा ।
५. महर्षि महिमा पर्व-प्रतिवर्ष फाल्गुन वदी १० से फाल्गुन वदी १३ ऋषि जन्म दिवस से बोध दिवस तक ।
६. वार्षिकोत्सव - प्रतिवर्ष दिसम्बर मास के अन्त में ९ दिनों तक प्रातः वेद पारायण यज्ञ दिन में विविध सम्मेलन आर्य स्त्री समाज का महिला सम्मेलन, बाल सत्संग का कार्यक्रम विशाल नगर कीर्तन शोभा यात्रा, एवं सायंकालीन व्याख्यान उपदेश ।
७. पुस्तकालय वाचनालय - प्रतिदिन प्रातः ८ से १२ एवं ४ से ८ बजे तक खुला रहता है जहाँ आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा प्रकाशित एवं बाहर से मँगाकर वैदिक साहित्य विक्रय हेतु उपलब्ध रहता है ।
८. "आर्य संसार" मासिक पत्र का प्रकाशन/हिन्दी एवं बंगला में साहित्य प्रकाशन ।
९. दातव्य औषधालय — मंगलवार से रविवार तक प्रतिदिन प्रातः ७ से १० बजे तक खुला रहता है ।
१०. नेत्रालय — प्रत्येक सोमवार को प्रातः १०॥ से ११॥ बजे तक निःशुल्क नेत्र चिकित्सा योग्य डाक्टर किया जाता है ।
११. नेत्र शल्य चिकित्सा शिविर-युवा शाखा द्वारा प्रतिवर्ष एक नेत्रदान चिकित्सा शिविर का आयोजन किया जाता है ।
१२. रक्तदान शिविर-युवा शाखा द्वारा प्रतिवर्ष एक रक्तदान शिविर का आयोजन किया जाता है ।
१३. प्राथमिक चिकित्सा एवं सहायता - दशहरा के अवसर पर बाल सत्संग एवं युवा शाखा द्वारा सहायता कैम्प लगाना ।
१४. महर्षि दयानन्द कन्या महाविद्यालय - प्राथमिक एवं माध्यमिक ।
१५. रघुमल आर्य विद्यालय - प्राथमिक एवं माध्यमिक ।
१६. आर्य कन्या महाविद्यालय—प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक ।
१७. जल क्षेत्र - प्याऊ की व्यवस्था ।

आर्य समाज कलकत्ता

के

वर्तमान पदाधिकारी एवं अन्तरंग सदस्य

प्रधान	—	श्री लक्ष्मण सिंह
उप-प्रधान	—	श्री श्रीनाथ दास गुप्त
,,	—	श्री छबीलदास सैनी
,,	—	श्री अच्छेलाल सेठ
मन्त्री	—	श्री श्रीराम आर्य
उंप-मंत्री	—	श्री घनश्याम मौर्य
,,	—	श्री नन्दलाल सेठ
,,	—	श्री दीपक आर्य
कोषाध्यक्ष	—	श्री विन्देश्वरी प्रसाद जायसवाल
हिसाब परीक्षक	—	श्री अवधेश झा
पुस्तकाध्यक्ष	—	श्री अच्छेलाल जायसवाल
उप-पुस्तकाध्यक्ष	—	श्री हीरालाल जायसवाल
यज्ञ-व्यवस्थापक	—	श्री शीतल प्रसाद आर्य
,,	—	श्री अमर सिंह सैनी

अन्तरंग सदस्य

श्री मनीराम आर्य
श्री ओमप्रकाश मस्करा
श्री राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल
श्री सुरेश चन्द्र जायसवाल
श्री मदनलाल सेठ
श्री लक्ष्मीकान्त जायसवाल
श्री छोटेलाल सेठ

श्रीमती सुमना आर्या
श्रीमती जानकी देवी
आर्य युवक सभाध्यक्ष—श्री अशोक सिंह

प्रतिष्ठित सदस्य

श्री पं० उमाकान्त उपाध्याय
श्री रुलिया राम गुप्त
श्री विश्वनाथ पोद्दार

विशेष आमन्त्रित

श्री मोतीलाल साव
श्री द्वारका प्रसाद जायसवाल
श्री कुलभूषण सभरवाल
श्री शिवकुमार जायसवाल
श्री अजय गुप्ता

पदेन

श्रीमती अंजना दूबे
टीचर इन्चार्य (आर्य कन्या महाविद्यालय)
श्री रामवृक्ष सिंह, प्रधानाध्यापक
रघुमल आर्य विद्यालय

आर्य समाज कलकत्ता के विद्वान् प्रचारक
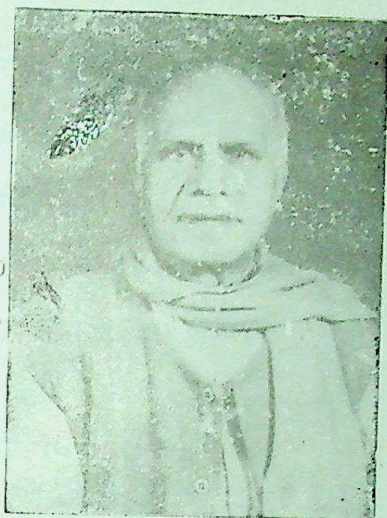
पं० श्री रामनरेश शास्त्री

पं० श्री उमाकान्त उपाध्याय

आर्य समाज कलकत्ता
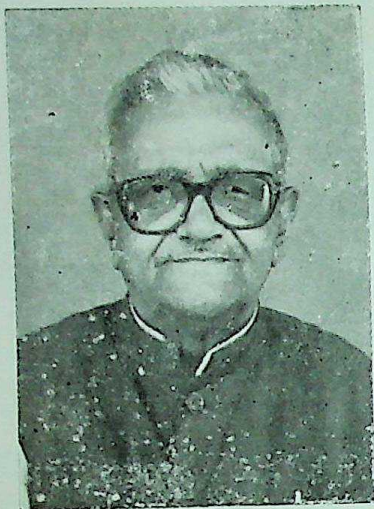
श्री लक्ष्मण सिंह, प्रधान

श्री श्रीराम आर्य, मन्त्री

अनुक्रम

विज्ञापन सूची

विशेष विज्ञापन (रंगीन)

विज्ञापन	पृष्ठ संख्या
१. शांति स्टील प्रोसेर्स	१
२. माँ काली आयरण स्टोर्स	२
३. कनक इनेमेल	३
४. झिंगुरीराम महावीर राम	४
५. सैनी इण्टरनेशनल	५
६. फास्ट एण्ड सेफ ट्रांसपोर्ट	६
७. चन्द्रा एण्ड चन्द्रा	७
८. रामकरण एण्ड सन्स	८
९. आर०एन० आर० उद्योग	९
१०. स्टील उद्योग केन्द्र	१०
११. स्टील वाइन कारपोरेशन	११
१२. मेवालाल सुरेशचन्द्र	१२
१३. वर्मा मेटल रिफाइनिंग	१३
१४. जय भारत वकेट इण्डस्ट्रीज	१४
१५. शीतल चन्द्र आर्य एण्ड सन्स	१५
१६. ऑटो केयर सेन्टर	१६

आवरण पृष्ठ

१. भारत मार्केटिंग कम्पनी	कवर द्वितीय
२. आरटेक इण्टर नेशनल प्रा० लि०	” तृतीय
३. इण्डियन आटोरेयन्स प्रा० लि०	” चतुर्थ

●

॥ ओ३म् ॥

सम्पादकीय

''आर्य-संसार, आर्य समाज कलकत्ता का मासिक मुखपत्र है। इसका प्रकाशन जनवरी १९५९ से आरम्भ हुआ था। दिसम्बर १९९९ में इकतालिस वर्ष पूरे हो गये। १९६८ तक आर्य-संसार का वार्षिक विशेषांक आर्य समाज कलकत्ता के वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रतिवर्ष विशिष्ट विद्वानों के लेखों के संग्रह के रूप में निकला करता था। १९६९ में समाज की अन्तरंग ने यह नीति-गत निर्णय लिया कि आर्य-संसार के वार्षिक विशेषांक के रूप में किसी दुर्लभ, अप्राप्त सुन्दर ग्रन्थ का प्रकाशन किया जाय। १९६९ से १९९९ तक इकतीस वर्ष हो गये। इस प्रकार इस वर्ष का विशेषांक पुस्तकों का ३१वाँ अंक हुआ। दो-तीन बार नये शोध प्रबन्ध भी प्रकाशित हुये, किन्तु वह शोध प्रबन्धों की महत्ता को देखते हुए अपवाद स्वरूप ही समझना चाहिये।

विशेषांक की इस श्रृंखला में इस वर्ष हम महर्षि दयानन्द के वेद सेनानी मुनिवर पं० गुरुदत्त जी की लेखावली प्रकाशित कर रहे हैं। हमने इस बहुमूल्य संग्रह का प्रकाशन १९७३ ई० के आर्य संसार के वार्षिक विशेषांक के रूप में किया था। इन लेखों के महत्त्व को ध्यान में रखकर हम इनका प्रकाशन पुनः कर रहे हैं।

आर्य समाज के इतिहास में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी जी का नाम, उनकी महर्षि भक्ति, उनका साहित्य-सृजन, संगठन की सेवा, सब अपने ढंग की निराली है। इस लेखावली में नव लेखों का संग्रह है। मूल रूप से ये लेख अंग्रेजी में लिखे गये थे। इनका हिन्दी अनुवाद आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्त जी और श्री सन्तराम जी बी० ए० ने किया था।

इस महार्घ संग्रह के प्रकाशन के अवसर पर हम विद्वान् लेखक और अनुवादक महोदयों के प्रति आभार प्रकट करते हैं।

यथासमय ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हम 'एसोशियेटेड आर्ट प्रिन्टर्स' श्री चन्द्रकान्त झा जी का एवं अपने अन्य सहयोगियों का धन्यवाद करते हैं।

उमाकान्त उपाध्याय

आर्य समाज मन्दिर
कलकत्ता
१८-१२-१९९९ ई०

प्राक्कथन

महर्षि के वेद-सेनानी

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती एक क्रान्तिकारी महापुरुष थे । इस क्रान्ति के कई स्वरूप बनते हैं । स्वामी दयानन्द ने एक व्यवहारिक क्रान्ति की दिशा सुझायी । गुरूकुल की शिक्षा-व्यवस्था उसी क्रान्ति का रूप है। सभी बच्चों को अध्ययन का समानाधिकार और रहन-सहन, खान-पान की समानता, तपस्वी जीवन, बस्ती से दूर एकान्त-निवास, आदि इस क्रान्ति के मुख्य अंग हैं । एक और अन्य क्रान्ति मनुष्य-मात्र को वेद-धर्म का अधिकार देना है अर्थात् मनुष्य-मात्र वेद के अनुयायियों में सम्मिलित हो सकते हैं अर्थात् कोई मुसलमान हो या ईसाई अथवा अन्य किसी धर्म का माननेवाला, सभी वेद-धर्म में प्रविष्ट होकर आर्य, हिन्दु बन सकते हैं । इन दोनों मोर्चों को स्वामी श्रद्धानन्द जी ने संभाला और उसी के निमित्त वे बलिदान हो गये ।

वेद भाष्य का एक और मोर्चा लगाकर स्वामी दयानन्द दिवंगत हो गये। उस समय सामान्य रूप से वेद भाष्य की दो दिशाएँ प्रचलित थीं । एक पौराणिक भाष्यकारों की पद्धति, जिसके अग्रणी प्रतिनिधि के रूप में आचार्य सायण को लिया जाता है । दूसरी पद्धति योरोप के विद्वानों की है जिसके अग्रणी प्रो० मैक्समूलर, प्रो० मोनियर विलियम्स आदि हैं । इन सबसे पृथक, भारतवर्ष की आर्ष परम्पंरा पर आधारित प्राचीनतम आर्ष-पद्धति का निरूपण स्वामी दयानन्द ने किया । सायणाचार्य आदि पौराणिक परम्परा के भाष्यकार भारतवर्ष की प्राचीन ऋषि परम्परा से पृथक हो गये और मतवाद के अन्ध-समर्थन में ये पौराणिक भाष्यकार यह सब कुछ सह गये ।

योरोपियन भाष्यकार वेदों को समझने के लिये इन्हीं सायणाचार्य आदि भाष्यकारों पर निर्भर रहे । किन्तु प्रो० मैक्समूलर हों या और कोई अन्य, प्रायः सभी का एक उद्देश्य था कि ईसाई धर्म को वैदिक-धर्म की अपेक्षा अधिक अच्छा सिद्ध किया जाय, बाईबिल का वर्चस्व बढ़े और वेदों की महिमा घटे। अपने इस निहित स्वार्थ की सिद्धि के लिये उन्होंने आचार्य

सायण आदि के भाष्यों का इतना सहयोग लिया कि इन योरोपीय वेद-व्याख्याताओं को सायणाचार्य का उपजीव्य कहना अधिक उचित है ।

स्वामी दयानन्द योरोपीय विद्वानों के इस निहित स्वार्थ को भली-भाँति समझ गये थे । उन्होंने एक ओर जहाँ पौराणिक भाष्यकार सायण, महीधर आदि के विरुद्ध मोर्चा लगाया था, वहीं दूसरी ओर प्रो० मैक्समूलर आदि के विरुद्ध भी स्वामी दयानन्द लिख-बोल रहे थे । स्वामी दयानन्द ने योरोप के इन विद्वानों की विद्वत्ता पर भी तीखी टिप्पणी कर दी थी । स्वामी जी ने सुस्पष्ट कह दिया था कि जिन प्रदेशों में वृक्ष नहीं होते, वहाँ एरण्ड का छोटा पेड़ भी बड़ा माना जाता है । ''यस्मिन् देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते ।'' स्वामी जी ने सुस्पष्ट कह दिया था कि योरोप के विद्वान् तो संस्कृत के पत्र भी पूर्ण रूप से समझने की योग्यता नहीं रखते, पुनः वेद-भाष्य क्या करेंगे ? वे तो यत्र-तत्र सायण आदि के अनुकरण से ही काम चलाते हैं । स्वामी दयानन्द योरोप के इन तथाकथित वेद-भाष्यकारों की विद्या-विहीनता का दिग्दर्शन करा रहे थे कि १८८३ ई० में स्वामीजी का देहान्त हो गया । अब इस मोर्चे पर पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का डट जाना एक अति महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ ।

पण्डित गुरुदत्त जी को कुल २६-२७ वर्षों का आयुर्बल मिला था। जिस विद्या की गम्भीरता और ज्ञान की प्रौढता का दिग्दर्शन पण्डित गुरुदत्त जी के ग्रन्थों एवम् व्याख्यानों में होता है, वह एक ओर विस्मयकारी है तो दूसरी ओर अत्यन्त मनोरम भी है ।

२०-२५ वर्षों का युवक स्वाभाविक ही अनुभवहीनता और खाने-खेलने की अवस्था का होता है । किन्तु पण्डित गुरूदत्त जी थे कि उनके जीवन में स्वामी दयानन्द के प्रति अनुरक्त भक्ति, वेद-ज्ञान के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा एवम् आर्य समाज के मिशन के प्रति सर्वात्मना समर्पित-भाव थे ।

पण्डित गुरुदत्त जी ने आर्ष-ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिये गुरुओं की खोज की । किन्तु अब उन्हें आर्ष-ग्रन्थों का पढ़ाने वाला गुरु न मिला तो उन्होंने इन ऋषि-कृत ग्रन्थों का स्वयम् ही स्वाध्याय करना आरम्भ कर दिया । हम उनके जीवन-चरित्र में पढ़ते हैं— ''दूसरे अगणित ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने दश उपनिषद्, गोपथ और ऐतरेय ब्राह्मण, निरूक्त के

कुछ भाग, सूर्य-सिद्धान्त और पतञ्जलि का महाभाष्य, स्वामी दयानन्द के वेदांग प्रकाश की सहायता से पढ़े ।''

यह एक अविश्वनीय सी घटना थी किन्तु उन्होंने स्वयम् अध्ययन करके ही सन्तोष नहीं कर लिया अपितु अध्यापन भी करने लगे । पण्डित गुरूदत्त जी के जीवन-चरित्र में हम पढ़ते हैं —

''सन् १८८९ का सारा वर्ष पण्डित गुरुदत्त पुनः असाधारण तौर पर काम करते रहे । उपदेशक श्रेणी की प्रतिष्ठा के लिए एक संस्था के शीघ्र ही बाद उन्होंने एक महाभाष्य श्रेणी खोल दी । पण्डित गुरुदत्त का जो प्रभाव आर्य समाजियों पर था, उससे उत्साही मनुष्य के एक समूह के मन में वैदिक साहित्य के अध्ययन की कामना उत्पन्न हुई । इनकी इस कामना को पूर्ण करने के लिये कुछ प्रबन्ध होना आवश्यक था । लाहौर में पण्डित गुरुदत्त के बिना कोई ऐसा व्यक्ति न था जो सुशिक्षित लोगों को ठीक तौर पर आर्य शास्त्र पढ़ा सकता, इसलिए पण्डित जी ने इस भारी काम को अपने ऊपर लिया । यह श्रेणी उनके घर पर ही लगा करती थी ।''

पण्डित गुरुदत्त जी की इस कक्षा में लाला नारायणदास एम०ए०, एक्सट्रा असिस्टेंट कमिश्नर ने भी तीन मास की छुट्टी लेकर अध्ययन किया था । ऐसे उच्च पदाधिकारी का इस कक्षा में सम्मिलित होना, इस कक्षा की महत्ता और पण्डित गुरुदत्त जी की तपस्या का प्रमाण है । पं० गुरुदत्त जी ने वैदिक-संज्ञा-विज्ञान शीर्षक के अपने लेखों में मैक्समूलर आदि योरोपिय विद्वानों की वेद-विद्या की समालोचना की है और यह दिखाया है कि योरोपीय विद्वानों का पक्ष कितना निर्बल एवम् विद्या-विहीन है । जो भी विद्वान् वेदों में इतिहास मानते हैं, उन्हें वेद के कुछ शब्दों को व्यक्तिवाचक संज्ञा मानना अनिवार्य हो जाता है और फिर किसी व्यक्ति-विशेष के अर्थ में वे शब्द रूढ़ि मानने पड़ेंगे । उदाहरण के लिये कण्व, वशिष्ठ, शुनःशेप यदि किन्हीं व्यक्तियों के नाम हैं तो निश्चित ही वे रूढ़ि शब्द हैं । वैदिक भाषा में ऋषि-परम्परा के आचार्य वेद के शब्दों को यौगिक मानते हैं । ''स्थूल रूप से कहें, तो संस्कृत भाषा में तीन श्रेणियों के शब्द हैं अर्थात् यौगिक, रूढ़ि और योगरूढ़ । यौगिक शब्द वह है जो धातु निष्पन्न-अर्थ रखता है अर्थात् जो केवल अपने धात्वर्थ और

विकारों के अर्थ को जनाता है, अथवा वह किसी नियत सांकेतिक अर्थ को अपने किन्हीं गर्भितार्थों के प्रभाव से नहीं प्रत्युत्त मनघडन्त नियम-मात्र के प्रभाव से जानता है।''

पण्डित गुरुदत्त जी महाभाष्य का प्रमाण दे कर लिखते हैं—

''नाम च धातुजमाह निरूक्ते व्याकरणे

शकटस्य च तोकम्''

''नैगम रूढिभवं हि सुसाधु''

महा०अ० ३ ।पा० ३। सू०॥

यास्क आदि निरुक्तकार और शाकटायन आदि वैयाकरण, सब शब्दों को धातु से निष्पन्न यौगिक और यौगरूढ़ ही मानते हैं और पाणिनि आदि आचार्य उन्हें रूढि भी मानते हैं । किन्तु यह लौकिक शब्दों की बात है, वैदिक शब्दों की नहीं । वैदिक शब्द तो सबके सब यौगिक हैं । गुरुदत्त जी लिखते हैं—''सब ऋषि और मुनि, पुरातन ग्रन्थकार और भाष्यकार निःशेष, वैदिक संज्ञाओं को यौगिक और योगरूढ़ ही मानते हैं तथा लौकिक शब्दों को रूढि भी मानते हैं ।''

योरोप के विद्वान वेदों में रूढि शब्द मानकर अपने निहित स्वार्थ की सिद्धि का उपक्रम करते हैं । वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या यौगिक होनी चाहिए। पण्डित गुरुदत्त जी योरोपीय विद्वानों की आलोचना जिस प्रकार करते हैं वह उनकी सशक्त समालोचना का उदाहरण है ....

''यूरोपियन विद्वानों में वैदिक पाण्डित्य की यह न्यूनतम, वैदिक भाषा और तत्वज्ञान से उनकी पूर्ण अनभिज्ञता ही हमारे देश में भी इतने कुसंस्कार और पक्षपात का कारण है । वस्तुतः हमें हमारे अपने ही भाई, जिन्होंने उच्चतम अंग्रेजी शिक्षा पाई है, पर जो सर्वथा संस्कृत-शून्य हैं, प्रायः बड़े अधिकार से कहते हैं कि वेद ऐसी पुस्तकें हैं जो प्रतिमाओं और प्राकृतिक तत्वों के पूजन की शिक्षा देती है, जिनमें पाकशाला की साधारणतः स्वतः सिद्ध सच्चाइयों से बढ़कर और कोई बड़े महत्त्व की दार्शनिक, नैतिक या वैज्ञानिक सच्चाई नहीं । अतएव इन हरिवर्षीय विद्वानों के व्याख्यानों के उचित मूल्य की जाँच करना सीखना हमारे लिए एक

अतीव प्रयोजनीय विषय है । अतः हम उन व्यापक नियमों का दिग्दर्शन प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसके अनुसार कि वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या होनी चाहिए, परन्तु जिन्हें यूरोपियन विद्वान सर्वथा भुला देते हैं, और जिसके कारण बहुत सा मिथ्यार्थ उत्पन्न हो गया है ।''

पण्डित गुरुदत्त जी की लेखनी बड़ी बलवती, वर्णन की कला अतीव सशक्त है । कहीं-कहीं ऐसी व्यंजना की क्षमता साहित्यिक उत्कृष्टता का प्रमाण प्रतीत होती है—''ऐसे ठोस अन्धकार के दारुण और भयानक भँवर में फँसा हुआ वह पथिक कष्ट पा रहा था । सहसा, सूर्य की तापवाहिनी किरणें घने बादलों पर पड़ीं और मानो एक ऐन्द्रजालिक स्पर्श से वह ठोस अन्धकार गलने लगा और धारासार वर्षा होने लगी । इसने अन्तरिक्ष को उड़ते हुए धूलिकणों से साफ कर दिया और एक नेत्रोन्मीलन में ही अन्धकार की आर्द्रता भरी चादर दूर हो गयी और अपना सारा राज्य जागृत दृष्टि के लिए छोड़ गयी ।''

यह साहित्य की छटा, एक वेद-मंत्र की व्याख्या में ''ज्योतिष्कृद'' और ''विश्वदर्शत'' शब्दों की व्याख्या में है ।

एक प्रसंग पर मैक्समूलर के वेद-भाष्य की समालोचना करते हुए पण्डित गुरुदत्त जी लिखते हैं — ''सारी सच्चाई तो यह है कि इस अश्वमेध के मिथ्या-कथा-ज्ञान की उत्पत्ति वैसे ही हुई है जैसे कि मैक्समूलर के अनुवाद की हुई है । यह वेदों के भाषा-सम्बन्धी नियमों के अज्ञान से पैदा हुआ है, जिससे कि यौगिक अर्थ रखने वाले शब्द नाम विशेष समझे जाते हैं और एक कल्पितमिथ्या-ज्ञान-कथा चलाया जा रहा है ।''

मोनियर विलियम्स ऑक्सफोर्ड के बोडेन-चेयर प्रोफेसर थे । यह चेयर थी तो संस्कृत की पर ईसाई धर्म प्रचारार्थ स्थापित की गयी थी जिसका संकेत मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-कोष की भूमिका में किया है । इन्होंने ''इण्डियन विज्डम'' नामक एक पुस्तक लिखी ।

इस पुस्तक के बहुत सारे उद्देश्यों का वर्णन मोनियर विलियम्स करते हैं। यह पुस्तक ईसाई मत के प्रचार की दृष्टि से लिखी गयी हैं । मोनियर विलियम्स के अपने शब्द इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं — ''इसलिये इन पृष्ठों का एक उद्देश्य यह भी है कि इसाई-धर्म और भारत में प्रचलित

संसार के तीन (मुसलमानी धर्म, ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म) बड़े-बड़े झूठे धर्मों के बीच भेद बताया जाय''।

इस उद्धरण में मोनियर विलियम्स का गर्व और इसाईयत-प्रचार की भावना सुस्पष्ट हो उठी है। मोनियर विलियम्स ने एक जगह लिखा है कि प्रथम भारतीय लेखकों ने साहित्य को विस्तारपूर्वक लिखा और इस विस्तार-बोझ से दब कर प्रतिक्रिया के रूप में संक्षिप्त सूत्र ग्रन्थों का निर्माण हुआ जो निर्बल हुई स्मरण-शक्ति को सहायक और तेजस्कर औषध देने के प्रयोजन से हुआ। यहाँ फिर मोनियर विलियम्स गर्व से इतने मन्द-दृष्टि हो गये हैं कि साहित्य के ऐतिह्य-क्रम को भी नहीं देख पाये। पण्डित गुरुदत्त जी लिखते हैं ''अध्यापक विलियम्स का यह कथन सर्वथा सत्य होता यदि काल की दृष्टि से संस्कृत के वे ग्रन्थ जिनमें विस्तार अधिक मिलता है, सूत्र ग्रन्थों के पहले की रचना होते।''

सुस्पष्ट है कि सूत्र-ग्रन्थ, षड्दर्शन, उपनिषद, उपवेद आदि पूर्व ग्रन्थ हैं। पश्चात इनके भाष्य, वृत्तियाँ, टीकाएँ, नाटक, पुराण, उपन्यास आदि लिखे गये। पहले सूत्र-ग्रन्थ हुए, फिर उनके भाष्य और टीकाएँ हुईं। प्रतिक्रिया पहले और क्रिया पीछे, यह मोनियर विलियम्स की विचित्र बुद्धि है। पण्डित गुरुदत्त जी ने इतना कठोर प्रहार किया है कि मोनियर विलियम्स के भी छक्के छूट गये होंगे। पण्डित गुरुदत्त जी लिखते हैं—''अलौकिक इसाई धर्म को, जिसके अनुयायी कि मोनियर विलियम्स हैं, उनके रूप में एक बहुत ही सच्चा पक्ष-समर्थक मिला है। इसाई धर्म हमें पिता के बिना पुत्र की उत्पत्ति स्वीकार करने को कहता है। लेकिन मोनियर विलियम्स यह मानना चाहते हैं कि पिताके जन्म से भी बहुत पहले पुत्र मौजूद था।''

मोनियर विलियम्स की इस प्रकार भौंडी और विद्या-बुद्धि विहीन स्थापनाओं पर गुरुदत्त जी का निष्कर्ष देखने योग्य है—वास्तव में दूसरे पण्डितों के मौन या प्रोत्साहन ने विलियम्स साहब को अत्यधिक दिलेर बना दिया है और संस्कृत साहित्य के विषय में एक भी ऐसा झूठ नहीं जिसको उनकी सर्वशक्तिमान, पवित्र लेखनी अन्धों के अन्धे अनुयायियों के लिये एक सप्रमाण सच्चाई में परिणत नहीं कर सकती।

जिस प्रकार मोनियर विलियम्स अपने इण्डियन विज्डम नामक ग्रन्थ में वैदिक और परवर्ती वाङ्मय पर आक्रमण करते हैं और यह पण्डित गुरुदत्त की प्रांजल एवम् निष्णात लौह-लेखनी की ही कला थी कि जिसमें प्रो० मैक्समूलर और प्रो० मोनियर विलियम्स जैसे चतुर मिश्नरी साहित्यकारों को उनके निहित ईसाई-स्वार्थ का बोध तो कराया ही था, साथ ही सम्पूर्ण पाश्चात्य प्राच्य-विद्या-जगत निरूत्तर भी हो गया था । आश्चर्य तो यह है कि भाषण और लेखन की यह कुशलता, चिन्तन की प्रौढ़ता, विद्या का अतल-स्पर्शी गाम्भीर्य, मुनियों जैसी सरलता और बलिदानियों जैसी समर्पण-भावना, मुनिवर गुरुदत्त जी थे जो सब प्रश्नों का उत्तर देते थे, लेख भी लिखते थे, प्रकाशन की व्यवस्था भी करते थे और आर्य समाज के जलसे, व्याख्यान, शंका-समाधान आदि भी किया करते थे ।

हमने इस लेख का शीर्षक महर्षि के वेद-सेनानी चुना है । पण्डित गुरूदत्त जी में वेद-सेनानी के सभी गुण प्रभूत मात्रा में उपस्थित हैं । विशेष रूप से योरोप के प्राच्य-विद्या-निष्णात, लब्ध-प्रतिष्ठ, विश्व-विश्रुत विद्वानों की वाचालता बन्द कर देते हैं और ऐसा लगने लगता है कि महर्षि के सेनानी ने इन शिष्ट-मर्यादा-शिथिल आक्रान्ताओं के दाँत ही नहीं तोड़े बल्कि जिह्वा भी नाथ दी ।

मि. पिनकॉट और मि. टी. विलियम ने मूर्ति-पूजा और नियोग जैसे प्रसंगों को उठाकर स्वामी दयानन्द पर दोषारोपण किया है । पण्डित गुरूदत्त जी थे जो ऐसे अभिमानी प्राच्य-विद्याविदों के गर्व को धूल धूसरित करने में पूर्णतः समर्थ थे । गुरूदत्त जी की भाषा में सेनानी का आत्मविश्वास पग-पग पर प्रकट होता है । उनका एक वाक्य देखिए–

''यह बड़ा शोचनीय विषय है कि यौरपीय पण्डितों ने छः दर्शनों को बहुत ही अशुद्ध समझा है । दर्शन उस समय बने थे, जबकि अभी बौद्ध मत का नामोनिशान न था । किन्तु संदिग्धता, नास्तिक, और तर्क को मानने वाले मनुष्यों की कभी भी कमी नहीं रही । योरोपीय पंडितों को दर्शन में जो विवाद देख पड़ता है, उसका कारण दर्शनकारों का पूर्वचिन्तन है न कि बौद्ध-धर्मजन्य सुधार की आँधी का देश में फैल जाना । यह प्रतिक्रिया तो दर्शनों की अपेक्षा शंकराचार्य के नवीन वेदान्त में पाई जाती है ।''

गुरूदत्त जी तिल-तिल करके आर्य समाज और स्वामी दयानन्द के मिशन के लिये जल रहे थे। किस तरह से उन्होंने अपने को एक समर्पित जीवन-दानी की तरह बलिदान की भट्ठी में झोंक दिया था, इसका दिग्दर्शन एक समर्पित जीवन-दानी स्वामी श्रद्धानन्द जी की भाषा में कीजिए—

''किन्तु जब-तब भी कभी-कभी रात को ऐ सर्द आह दिल से निकलती है, और हृदय पुकार उठता है हा ! गुरूदत्त के मूर्ख मित्रो ! तथा अन्धे श्रद्धालु भक्तो ! यदि तुम जानते होते कि अपने पूज्य पण्डित जी को दो-दो बजे रात तक पठन-पाठन और शंका-समाधान के लिये जगाकर तुम उन्हें मौत के मुँह में धकेल रहे हो तो तुम्हें कितना अनुताप होगा ?''

उमाकान्त उपाध्याय

१

मुनिवर पंडित गुरुदत्त की जीवनी

पं० गुरुदत्त २६ अप्रैल सन् १८६४ को मुल्तान नामक स्थान में पैदा हुए थे । इनका जन्म प्रसिद्ध वीर सरदाना कुल में हुआ था जिस कुल में राजा जगदीश जैसे पराक्रमी राजा हुए हैं जिन्होंने विदेशियों से अपनी प्रजा की रक्षा करने के लिये अपना सब कुछ, यहाँ तक कि प्राण भी दे डाले थे । इसी कुल में ला० रामकृष्ण के घर इनका जन्म हुआ था । ला० रामकृष्ण फारसी भाषा के नामी पंडित थे और पंजाब के शिक्षा विभाग में अध्यापक थे । इनका बड़ा मान था । यह बड़े बलवान थे । इनकी बुद्धि बड़ी तेज और स्मरण शक्ति बहुत तीव्र थी । पं० गुरुदत्त की माता यद्यपि अपढ़ थीं, परन्तु बड़ी उदार और धार्मिक-वृत्ति की देवी थीं । उनके बहुत सी सन्तानें हुईं, जिनमें थोड़ी ही जीवित रहीं । पण्डित गुरुदत्त उनके अन्तिम पुत्र थे । कहते हैं अपने विपत्ति काल में पंडित गुरुदत्त के माता-पिता अपने कुलगुरु के पास गये थे और उनसे निवेदन किया था कि वह ईश्वर से प्रार्थना करके उन्हें पुत्र की प्राप्ति करायें । दैवयोग से कुछ काल पीछे इच्छित पुत्र का जन्म हो गया । अपनी प्रार्थना को सफल समझ माता-पिता ने बालक का नाम गुरुदत्त रख दिया ।

गुरुदत्त को अपने कुल, माता और पिता से विशेष गुण प्राप्त हुए थे । अपने वीर सरदाना कुल के अनुरूप उनमें वीर-भाव कूट-कूट कर भरे थे । धैर्य और संयम माता से मिले थे । उत्तम शारीरिक बल, तीव्र बुद्धि और दृढ़ स्मरण शक्ति पिता की देन थी । गुरुदत्त की शारीरिक और मानसिक विशेषताओं का ज्ञान आरम्भ से होने लगा । एक वर्ष की आयु में ही यह दौड़ने लगे । कुछ समय पीछे ही साधारण वस्तुओं के विषय में बड़े-बड़े विचित्र प्रश्न करते थे ।

शिक्षा

गुरुदत्त के पिता शिक्षा विभाग में अध्यापक थे । इस लिए वह अपने बच्चे को पढ़ाने में अधिक सफल हुए । वह गुरुदत्त को बहुत कम डाँटते थे, बल्कि पाठ याद करने के लिए कोई न कोई लोभ देकर बच्चे में उत्साह पैदा करते रहते थे । इसके अलावा बच्चे को अपनी प्रवृत्ति के अनुसर चलने में वह कोई रुकावट नहीं डालते थे । वह बड़े ध्यान से बच्चे के स्वभाव और इच्छाओं को समझने की कोशिश किया करते थे । जब गुरुदत्त लगभग पाँच वर्ष के हुए

तो उन्हें वर्णमाला सिखाई गई। अगले वर्ष गणित की प्रारम्भिक शिक्षा दी गई। गुरुदत्त ने दी हुई शिक्षा को बहुत जल्दी ग्रहण कर लिया।

गुरुदत्त के पिता उसे बड़े मनोरंजक ढंग से पढ़ाते थे। आस-पास के गाँवों में ले जाते, और उसे रास्ते भर विविध सवाल पूछने की आज्ञा दे देते थे। स्वयं उसके सवालों का जबाव बड़े ढंग से देते थे। जिससे गुरुदत्त की जिज्ञासु-वृत्ति (जानने की इच्छा) बढ़ती जाती थी। पिता ने घर पर ही गुरुदत्त को उर्दू और फारसी का अच्छा ज्ञान करा दिया। अब उनका विचार उसे अंग्रेजी पढ़ाने का हुआ। पिता ने अंग्रेजी नहीं पढ़ी थी, परन्तु साथ में यह भी बात थी कि पिता को भरोसा था कि मेरे पढ़ाने से यह जल्दी सीख सकेगा। इसी विचार से स्वयं पिता ने अंग्रेजी की पहली पुस्तक पढ़ी और पुत्र को अंग्रेजी पढ़ाई।

स्कूल प्रवेश

गुरुदत्त के पिता झंग के एक स्कूल में अध्यापक थे, इसलिये उन्होंने गुरुदत्त को भी अपने ही स्कूल में दाखिल करा दिया। इस समय गुरुदत्त की अवस्था ८ वर्ष की थी। गुरुदत्त अंग्रेजी में तो अन्य लड़कों के बराबर थे, क्योंकि इस भाषा का अभ्यास घर पर नहीं हो सकता था, उसका कारण उनके पिता का इस भाषा से अनभिज्ञ होना था। हाँ, उर्दू फारसी और गणित आदि विषयों में वह अवश्य अन्य लड़कों से बढ़े चढ़े थे। गुरुदत्त ने अपने स्कूली जीवन में फारसी के बहुत से ग्रन्थ 'मौलाना रूमी' 'शाम्सतम्ब रेज' और 'दीवाने हाफिज' आदि पढ़ लिये थे। माता की धार्मिकता के कारण गुरुदत्त में कुछ वैराग्य-भावना शुरू से ही आ गई थी, उसमें फारसी के इन ग्रन्थों ने और भी तन्मयता पैदा कर दी। बचपन में ही वह घण्टों आकाश की ओर देखते रहते और उस सर्वशक्तिमान ईश्वर की अद्‌भुत कारीगरी पर विचार करते रहते। वह बड़े ईश्वर भक्त थे। बेटे को घण्टों इस प्रकार आकाश की ओर देखते माता को आश्चर्य हुआ और उसने पुत्र को डाँटा भी। पुत्र ने उत्तर दिया 'माता! मैं आकाश की अद्‌भुत चमकीली वस्तुओं को देखता हूँ। ऐसी विचित्र वस्तुओं का बनाने वाला कोई जरूर है। तू भी उधर देख और मेरी तरह उसके बनाने वाले को ढूँढ़।'' माता को क्या पता था कि यही जिज्ञासु-वृत्ति इसे एक महान पुरुष बनायेगी।

अद्‌भुत कविता-शक्ति

प्रायः देखा जाता है कि लड़के स्कूल लाइफ में कविता बनाने में बहुत रस लेते हैं। किन्तु इनकी कविता किसी नियम के अनुसार नहीं होती। गुरुदत्त

में यह विशेषता थी कि उनकी कविता नियम बद्ध होती थी । प्रेम में लीनता उस पर उनकी इतनी तीव्र गति कि तुरन्त गद्य को पद्य में बदल सकते थे । एक बार एक उर्दू के लम्बे वाक्य को उन्होंने तुरन्त फारसी पद्य में बदल दिया । इतना होते हुए भी उनका जीवन एक कवि का जीवन न बन सका । परिस्थिति ने उन्हें कुछ और ही बनाया । मिडिल पास करने के बाद वह अपनी जन्मभूमि मुल्तान चले गये और वहाँ एक हाई स्कूल में प्रविष्ट हो गये । वहाँ का अध्यापक मण्डल इनकी योग्यता से बड़ा प्रसन्न हुआ ।

स्वाध्याय-शीलता

अधिकतर लड़कों का ध्येय स्कूली परीक्षाएँ पास करना ही होता है और वह किसी कोर्स की किताबों को रटकर परीक्षाएँ पास कर लेते हैं । परन्तु हमारे चरित्र नायक इस मामूली अध्ययन से सन्तुष्ट होने वाले लड़कों में न थे । पहले तो उन्होंने स्कूल का पुस्तकालय छान मारा । फिर मुल्तान के अन्य पुस्तकालयों की पुस्तकें पढ़ीं । इनके स्कूल में एक अध्यापक थे । उन्होंने उनकी स्वाध्याय-शीलता का झुकाव धर्म की ओर करना चाहा और इन्हें कुछ पुस्तकें हिन्दू-धर्म के विषय की दीं । इन पुस्तकों से गुरुदत्त इतने प्रभावित हुए कि इन्होंने ईश्वर के विशेषण "अनहद" का जाप करना शुरू कर दिया । और कुछ समय तक इस क्रम को जारी रखा । पश्चात् उन्हें ज्ञात हुआ कि प्राणायाम शिक्षा के द्वारा अपनी मानसिक शक्ति को बहुत हद तक बढ़ा सकते हैं ।

मन की एकाग्रता

फलतः उन्होंने प्राणायाम का अभ्यास शुरू किया । बुद्धि तीक्ष्ण थी ही । अब एकाग्रता की भी प्राप्ति हो गई । दोनों ने मिलकर इन्हें ऐसा बना दिया कि यह अपने मन को किसी भी विषय में इतना लगा सकते थे कि आसपास की वस्तु और व्यापार की भी इन्हें सुध बुध न रहती थी । इसी कारण प्रत्येक वस्तु को सूक्ष्मता से समझना उनके लिये बड़ा आसान हो गया ।

परन्तु आहिस्ता-आहिस्ता हाई स्कूल की शिक्षा ने उन्हें अंग्रेजी विद्वानों की पुस्तकों की ओर आकर्षित किया । फिर क्या था गुरुदत्त तो एक चीज के पीछे हाथ धोकर पड़ जाते थे । बड़े-बड़े अंग्रेज विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़ डाला । नतीजा यह हुआ कि गुरुदत्तजी के विश्वास हिल गये । उस समय यूरोप और अमरीका से आये हुए ईसाई सारे भारत को एकदम ईसाई बनाने को आतुर थे । पाश्चात्य शिक्षा ने अलग गजब ढाया हुआ था । पंजाब में तो पाश्चात्य रंग ढंगों ने अपना पूर्ण अधिकार कर लिया था । फिर गुरुदत्तजी ही कहाँ बचे रह सकते थे । जो गुरुदत्त ईश्वर-भक्त ही पैदा हुआ था, वही गुरुदत्त ईश्वर के होने में भी संदेह करने लगा । फारसी और हिन्दु धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों का असर

एकदम काफूर हो गया । पंजाब की यह स्थिति थी कि लोग धड़ाधड़ ईसाई होते जा रहे थे । ऋषि मुनियों के संसार को चकाचौंध करने वाले खजाने भारतीयों की आँखों से ओझल हो रहे थे ।

ईसाई पादरी समझ रहे थे कि हकूमत ईसाइयों की है, शीघ्र ही सारा भारत ईसाई बन जायेगा । उन्हें यह पता न था कि शीघ्र ही एक महान् पुरुष आकर आदिम सभ्यता का प्रबल रक्षक बनेगा और उनकी सारी कोशिशें बेकार जायेंगी । दैव-कृपा से भारत के काठियावाड़ प्रदेश में भारतीय संस्कृति का रक्षक एक अद्भुत पण्डित पैदा हुआ । इस प्रातः स्मरणीय महान् पुरुष का नाम 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' था । इसने ईसाई मत को चैलेंज दिया कि वे मैदान में आकर अपनी सच्चाई प्रकट करें । ईसाइयों ने उसे ऐसा वैसा आदमी समझा । अपने पक्ष को सिद्ध करने को आये, परन्तु ऋषि दयानन्द की युक्तियों के आगे एक न चली । हिन्दुओं की जो बाढ़ ईसाई धर्म की ओर झुक रही थी । वह एकदम बन्द हो गई और वह आर्य समाज की ओर बढ़ी ।

आर्य समाज में प्रवेश

जिस बाढ़ का रुख आर्य समाज की ओर हो रहा था, उसमें ही गुरुदत्त भी शामिल थे । गुरुदत्त को आर्यसमाजी बनाने में आर्य समाज ने एक बड़ी विजय पाई, क्योंकि गुरुदत्त अपना रुख पलटने से पहले बहुत सोच-विचार करते थे । उन्होंने पहले सत्यार्थ-प्रकाश पढ़ा और २० जून १८८० ई० को आर्य समाज में प्रविष्ट हो गये । इन दिनों पं० रैमलदास और ला० चेतनानन्द उनके परम मित्र थे । इनसे गुरुदत्त वेद, ईश्वर और अन्य धार्मिक विषयों की छानबीन करते रहते थे । जल्दी ही उन्होंने अष्टाध्यायी पढ़ना शुरू किया । आर्य समाज के अधिकारियों से कहकर उन्होंने इसके लिए एक पण्डित अक्षयानन्द को अपना गुरु बनाया, लेकिन वह गुरुदत्त जी को सन्तुष्ट न कर सके और डेढ़ अध्याय समाप्त करके ही गुरुदत्त ने उनसे पढ़ना छोड़ दिया । पीछे स्वामी दयानन्द द्वारा लिखे 'वेदांग-प्रकाश' की सहायता से उन्होंने 'अष्टाध्यायी' पर काफी अधिकार कर लिया । मुल्तान में इन्हें डा० बेलन टाइन द्वारा लिखी 'ईजीलैसन्ज इन संस्कृत ग्रामर' मिली । इस पुस्तक के द्वारा स्वयं व्यक्ति संस्कृत सीख सकता है । गुरुदत्तजी ने उसे पढ़ा । बाद में आपने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका को पढ़ा । जो लोग बड़ी आयु होने पर संस्कृत न पढ़ सकते थे उनसे भी पंडित गुरुदत्त 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' पढ़ने को कहते थे ।

गुरुदत्त जी में आरम्भ से ही एक प्रकार का आकर्षण था । जो आदमी एक बार उनसे मिल लेता, बार-बार उनसे मिलने की इच्छा करता । गुरुदत्तजी आर्य समाज के सत्संगों में नियमपूर्वक आया करते थे । सभी आर्य समाजी उनका बड़ा आदर करते थे और उनकी उन्नति में बड़ी दिलचस्पी लेते थे ।

संस्कृत के धार्मिक साहित्य की ओर गुरुदत्त की इतनी अधिक रुचि को देख कर लोग इन्हें ला० गुरुदत्त न कहकर पण्डित गुरुदत्त कहने लगे। उस पर भी गुरुदत्त की विनीतता देखिये कि वह अपने आपको हमेशा गरुदत्त विद्यार्थी ही कहते रहे।

गुरुदत्त की प्रतिभा का यह हाल था कि उनके प्रश्नों के उत्तर देने में मास्टर लोग उलझ जाते थे। अध्यापक लोग और इन्सपेक्टर महोदय इस प्रतिभाशाली युवक को देख कर अचम्भा करते थे। यही नहीं, बड़ी श्रेणी के लड़के गुरुदत्त के पास पढ़ने आते थे। इतना प्रतिभाशाली होने पर भी इन्हें अभिमान छू भी न सका था। इनकी सुशीलता की यह दशा थी कि लोग इन्हें वैरागी और गुरुजी के नाम से पुकारते थे।

योग-प्रेम और साधु-सेवा

धार्मिक जीवन की ओर तो गुरुदत्त का प्रथम से ही झुकाव था। जब वह आठवीं श्रेणी में हुए तो इन्हें योग की धुन सवार हुई और इसी धुन में उस प्रत्येक साधु की बड़ी सेवा करते थे जिससे उन्हें इस सम्बन्ध में जरा भी आशा होती। पाठक पहले पढ़ चुके हैं कि गुरुदत्त जी ने प्राणायाम का अभ्यास बचपन मे ही शुरू कर दिया था। इन सब बातों को देखकर उनकी माता बहुत डरीं कि कहीं बेटा जल्दी ही गृहस्थ त्याग साधु न हो जाय। एक दिन गुरुदत्त बैठे प्राणायाम कर रहे थे और उन्होंने अपनी नाक बन्द कर रक्खी थी। माता यह देख बड़ी क्रुद्ध हुई। माता ने बहुत कोशिश की कि बेटा योगियों के रास्ते पर न जाये, परन्तु जल और हृदय के प्रवाह को रोकने में कौन समर्थ हुआ है ?

परीक्षा की तैयारी के समय सभी विद्यार्थी अपने अध्ययन में दृढ़तापूर्वक लगे रहते हैं और उनका ध्यान केवल अपनी स्कूली पुस्तकों में केन्द्रित हो जाता है। हमारे विद्यार्थी जी की प्रत्येक बात विलक्षण थी। उन्हें इसी समय वेद पढ़ने की सूझी। इससे पहले विद्यार्थी जी अंग्रेजी साहित्य के मिलटन, कूपर और शेक्सपीयर पढ़ चुके थे। फारसी में मसनवी मौलानारूमी, हाफिज और उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ पढ़ चुके थे। अरबी के सर्फ नहब और मरानहब पढ़ लिये थे। 'भौतिक विज्ञान' इनका मन बहलाव था। तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान और तत्त्वज्ञान के आपने बहुत से ग्रन्थों का अनुशीलन कर डाला था। इस समय गुरुदत्त की उम्र लगभग पन्द्रह साल थी। जहाँ एन्ट्रेन्स के लड़कों की मामूली योग्यता होती है, वहाँ गुरुदत्त योग्यता में अच्छे-अच्छे शिक्षकों से बाजी ले गये थे। जिन विद्याओं का गुरुदत्त अध्ययन कर चुके थे, मैट्रिक के लड़के उनका नाम तक नहीं सुन पाते हैं।

एन्ट्रैन्स में पढ़ते समय गुरुदत्त एफ०ए० के लड़कों से भी भली प्रकार

मुकाबला कर सकते थे । प्रत्येक विषय को खूब समझने की कोशिश करते थे, कभी भी किसी चीज को रटते न थे । शेक्सपीयर के नाटक को वह ऐसी अच्छी तरह से बोलते थे मानो सचमुच नाटक खेला जा रहा है । स्वर, चेष्टा और ताल सब मौके के मुताबिक होते थे ।

सदाचारी जीवन

गुरुदत्तजी सच्चाई के बड़े भक्त थे, कभी भी झूठ न बोलते थे । उनका चाल-चलन इतना अच्छा था कि उसीके कारण वह किसी से डरते न थे । पाश्चात्य प्रभाव के कारण कालेज के लड़कों का चरित्र प्रायः खराब हो जाता है और बड़े प्रयत्न से ही कुछ व्यक्ति बिल्कुल साफ निकलते हैं, अन्यथा कालेज का विलासी जीवन कुछ न कुछ विपरीत असर जरूर डालता है । गुरुदत्त ने आरम्भ से ही अपने पर काबू रखने का अभ्यास कर लिया था । अपनी अच्छी आदतों पर वह बड़ी दृढ़तापूर्वक डटे रहते थे । यही कारण था कि उनका जीवन बड़ा शानदार रहा । स्कूली पुस्तकों को छोड़कर आप ऊपर की पुस्तकें अधिक पढ़ा करते थे । इसपर भी मैट्रीकुलेशन की परीक्षा में आप पंजाब प्रान्त भर में पाँचवें नम्बर पर आये ।

कालेज जीवन

सन् १८८१ ईस्वी के जनवरी मास में आप लाहौर पढ़ने आये और गवर्नमेंट कालेज लाहौर में भरती हो गये । उस समय पंजाब भर में एक ही कालेज था । सब जिलों के विद्यार्थी उसी में पढ़ने आते थे । कालेज के प्रिन्सिपल लाइटनर साहब अच्छे विद्वान् और सहृदय व्यक्ति थे । वह पूर्वी विद्याओं के भी विद्वान् थे । उन्हीं की देखरेख में प्रोफेसर लोग बहुत अच्छी तरह पढ़ाते थे । उन दिनों आज का सा उपेक्षा भाव न था । अध्यापक लोग अपनी जिम्मेदारी बहुत अधिक समझते थे । शिष्य भी अध्यापकों का बड़ा मान करते थे, अनादर का तो प्रसंग ही न आता था । यही कारण था कि उस समय इस कालेज से बहुत ही योग्य व्यक्ति निकलते थे । गुरुदत्तजी प्रतिभाशाली तो थे ही, यहां के वातावरण ने उनमें असाधारण योग्यता पैदा कर दी ।

कालेज में आकर गुरुदत्त ने मिल और वेन की पुस्तकों को बड़े चाव से पढ़ा । धीरे-धीरे सभी तत्त्ववेत्ताओं की पुस्तकें गुरुदत्त ने पढ़ डालीं । ऐसा कोई भी दार्शनिक नहीं था, जिसके बारे में गुरुदत्त फौरन प्रत्येक बात न बता सकें । तत्त्वज्ञान के सिवा अन्य विषय जैसे गणित, साइन्स और अरबी व्याकरण के भी यह असाधारण पण्डित थे । बाहरी पुस्तकों को इतना पढ़ते हुए भी एफ० ए० की परीक्षा में आप युनिवर्सिटी भर में सर्वप्रथम रहे । सन् १८८३ ई० में गुरुदत्तजी ने एफ०ए० पास किया था ।

इसी बीच में गुरुदत्तजी ने एक फ्री डिवेटिंग क्लब' की स्थापना की। इसमें भाँति-भाँति के धार्मिक एवं अन्य विषयों पर वाद-विवाद होता था। इस क्लब के मन्त्री पण्डित गुरुदत्तजी बनाये गये। लाला लाजपतराय भी इसके मेम्बर थे।

इस सभा के दो पक्ष होते थे। विरोधी पक्ष की ओर से पण्डित गुरुदत्त बोला करते थे। गुरुदत्त की तर्कशक्ति इतनी प्रबल थी कि वह प्रत्येक विषय को चाहे जिधर घुमा सकते थे। उनके विरोध का असर नवयुवकों पर बहुत बुरा पड़ते देख गुरुदत्त ने आर्य-सिद्धान्तों की पुष्टि शुरू कर दी। इसका बहुत ही अच्छा असर पड़ा और नवयुवक आर्य-सिद्धान्तों के भक्त बनने लगे।

सम्पादक भी बने

गुरुदत्तजी की युक्तियाँ इतनी प्रबल होती थीं कि लोग उनका लोहा मानते थे। एक सज्जन इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने गुरुदत्त और उनके दो अन्य मित्रों को एक पत्र निकालने के लिए उत्साहित किया। पत्र अंग्रेजी में था। उसका नाम The Regenerator of Aryavart (आर्यावर्त का संस्कारक) रक्खा।

गुरुदत्त का प्रभाव उनके मित्रों और सहपाठियों पर बहुत ही उत्तम पड़ा। कहावत है कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रङ्ग पकड़ता है। अन्य साथियों की भी बिल्कुल काया-पलट हो गई। उनके अधिकतर मित्र पंजाब के सार्वजनिक जीवन में अपना स्थायी नाम पैदा कर चुके हैं। उन्हीं साथियों में महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय का नाम उल्लेखनीय है।

नास्तिकता की ओर

सन् १८८३ ई० का साल गुरुदत्तजी के जीवन में बड़े उतार-चढ़ाव का साल है। ईश्वर-भक्ति के अंकुर तो गुरुदत्त के हृदय में स्कूल में ही पूरी तरह जम चुके थे। मगर अब उनकी बुद्धि में ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ संशय पैदा हो गया। इसका असर उनके मित्रों पर भी पड़े बिना न रह सका। गुरुदत्तजी अपने विचारों को कभी न छिपाते थे। वह मन और कर्म से एक थे। जो आदमी कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं, ऐसे आदमियों से गुरुदत्त को घृणा थी। गुरुदत्त अपने नास्तिक होने के विचार को प्रकट कर देते, उनके कई मित्र भी ऐसा करने के लिये तैयार हो गये। परन्तु शीघ्र ही उनके विचारों में परिवर्तन हो गया। असल में गुरुदत्तजी बहुत ही थोड़े दिन नास्तिक रहे, परन्तु इतने थोड़े दिन भी वह छिपे नास्तिक नहीं रहना चाहते थे। गुरुदत्त की नास्तिकता ने गुरुदत्त अथवा उनके अन्य दोस्तों को हानि नहीं पहुँचाई, परन्तु इस नास्तिकता के थोड़े से दिनों ने उन सबका आगे का जीवन बहुत ही उज्ज्वल और ईश्वर-प्रेमी बना दिया।

सन् १८८३ ई० के मार्च मास में इन्होंने आर्य समाज के सम्बन्ध में एक 'विज्ञान-श्रेणी' जारी की, जिसके संरक्षक गवर्नमेण्ट कालेज के विज्ञान-महामहोपाध्याय श्री ओमन् थे। इस प्रकार पं० गुरुदत्त ने आर्य-समाज को एक तर्क-सिद्ध और विज्ञान-समर्थित धर्म संस्था साबित करने में भरसक प्रयत्न किया।

आस्तिकता की अमिट छाप

सन् १८८३ ई० का वर्ष गुरुदत्त के जीवन में बड़ा ही कार्यशील (Busy) वर्ष रहा है। अचानक खबर मिली कि आर्य-समाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द अजमेर में रुग्ण हैं। अन्य बड़ी-बड़ी समाजों की भाँति लाहौर आर्य-समाज की ओर से भी लाला जीवनदास और पण्डित गुरुदत्त को प्रतिनिधि रूप में स्वामीजी की सेवा आदि के लिए अजमेर भेजा गया। यद्यपि गुरुदत्त का नम्बर इस सम्मान के लिए बहुत पीछे आता, क्योंकि वह अभी १९ वर्ष के एक नवयुवक थे। परन्तु ज्ञान, अनुभव और प्रभाव में गुरुदत्त इतने बढ़े-चढ़े थे कि वह सबके नेता गिने जाते थे और आर्यसमाज के सभी सभासदों का उनपर बड़ा विश्वास था। गुरुदत्त छोटे फिलास्फर (Young Philosopher) और होनहार नवयुवक के नाम से प्रतिष्ठित थे।

गुरुदत्त अजमेर पहुँचे। ऋषि के इलाज में भाग लेते रहे। ऋषि को आराम न हुआ, न हुआ। सारा शरीर फुंसियों से भर गया। शरीर बहुत दुर्बल हो गया था, प्रत्येक साँस के साथ सख्त पीड़ा हो रही थी। इतना भारी कष्ट और मुँह से 'आह' तक का न निकलना, सचमुच आश्चर्य की बात थी। गुरुदत्त भी चकित थे। बड़े ध्यान से कौतूहल पूर्ण दृष्टि से ऋषि की ओर देखते। समझ में न आता था कि यह अद्भुत महान् व्यक्ति किस प्रकार शान्त है? इतना कष्ट और फिर शान्त। ब्रह्मचर्य, योग और ईश्वर-विश्वास का क्रियात्मक सन्देश-वाहक अपना असर लाया। गुरुदत्त में एक तीव्र परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। जिस समय ऋषि प्राणायाम द्वारा अपने प्राणों को त्यागने वाले थे, ठीक उस समय ऋषि के अन्तिम शब्द यह थे—"हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है!" यह सुन गुरुदत्त मंत्रमुग्ध से रह गये। उनपर जादू का सा असर हुआ, उन्हें जो चीज न्यूटन और बेकन के अध्ययन ने न दी, जो वस्तु वह डार्बिन और स्पेन्सर से प्राप्त न कर सके, वह वस्तु उन्हें ऋषि दयानन्द की मृत्यु ने प्रदान की।

गुरुदत्त ने देखा कि एक ईश्वर-विश्ववासी मनुष्य किस शान्ति से मर सकता है। और मृत्यु में भी ईश्वर की महिमा को देख सकता है। खर्बूजे को देखकर खर्बूजा रंग पकड़ता है। ऋषि दयानन्द का ईश्वर-विश्वासी रूपी रंग गुरुदत्त पर अच्छी तरह चढ़ गया। यह रंग अमिट था। गुरुदत्त चले थे ऋषि

के रोग नाश के प्रयत्न के लिये, पर उल्टे ऋषि ने गुरुदत्त के संशय-रोग का बीज नष्ट कर दिया। जो गुरुदत्त संशयशील वृत्ति और नास्तिकता के भाव लिये अजमेर पहुँचा था, वह अजमेर से पक्का विश्वासी आस्तिक होकर लौटा।

विद्यार्थी जीवन की विशेषतायें

गुरुदत्त के अन्दर विद्यार्थी-जीवन में ही बहुत सी विशेषताएँ थीं जो पाठकों को साफ दिखलाई दे रही हैं। हम उन विशेषताओं को तीन भागों में रखते हैं। एक तो प्रतिभा के साथ-साथ उनकी अतिशय विनीतता जिसका प्रभाव बहुत ही ज़्यादा पड़ता था। कोई भी व्यक्ति उनका आदर किये बिना न रह सकता था। दूसरी विशेषता उनकी व्यायाम की ओर रुचि का होना है। बहुत से होनहार (Shining) लड़के व्यायाम से विमुख रहते हैं, परन्तु गुरुदत्त व्यायाम के भी बड़े प्रेमी थे। उनका शरीर बड़ा बलवान था। इनकी दिमागी ताकत भी व्यायाम के कारण निरन्तर बढ़ती जा रही थी। मानसिक विकास रुकने का कोई कारण उपस्थित न हो सका। गुरुदत्तजी के विद्यार्थी जीवन की तीसरी बड़ी विशेषता उनकी आर्य समाज की सेवा है। कालेज के तीसरे वर्ष में ही वह आर्यसमाज के नेताओं में गिने जाने लगे। कोई भी काम उनकी राय लिये बिना न हो सकता था। उनका जीवन केवल विद्यार्थी जीवन ही न था, विद्यार्थी जीवन में ही उनके कार्य क्षेत्र का भी सूत्रपात हो चुका था और वह बहुत विस्तृत बन चुका था।

अजमेर से आकर पण्डित गुरुदत्त ने आर्य साहित्य का मन्थन करना आरम्भ किया। जितना ही वह ऋषि दयानन्द के लिखे ग्रन्थों को पढ़ते जाते थे, उतना ही ऋषि के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ती जाती थी। ऋषि के लिखे 'सत्यार्थ-प्रकाश' को ही उन्होंने १८ बार पढ़ा था और कहा करते थे कि जितनी बार मैं इसे पढ़ता हूँ मुझे नवीन और ताजा चीज मिलती है। ऋषि दयानन्द की मृत्यु पर ८ नवम्बर १८८३ ई० को उनका स्मारक (यादगार) बनाने का प्रस्ताव पास हुआ और यह निश्चय हुआ कि ऋषि की यादगार में एक कालिज खोला जावे। उसी समय पंडित गुरुदत्त का ओजस्वी भाषण हुआ और तत्काल ही ७०००) की राशि इकट्ठी हो गई। प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता ही गया और बी०ए० होने से पहले ही वह सभी आर्य समाजों के मुखिया गिने जाने लगे। उनकी कीर्ति सारे पंजाब में फैल गई।

ला० हंसराज और ला० लाजपतराय पण्डितजी के सहपाठी थे। बी०ए० की परीक्षा में पण्डित गुरुदत्त यूनिवर्सिटी भर में सर्वप्रथम रहे और ला० हंसराज द्वितीय। इस प्रकार गुरुदत्त सन् १८८५ में ग्रेजुएट हो गये। बी०ए० पास करने के बाद गुरुदत्त डी०ए० बी० कालेज के लिये रुपया इकट्ठा करने आदि कार्यों में लग गये। प्रत्येक समाज के सालाना जलसे पर

जाते और कालेज के लिये अपीलें करते । रुपये की वर्षा होने लग जाती । स्त्रियाँ और लड़कियाँ अपने गहने उतार कर सौंप देती थीं । गुरुदत्त के भाषणों में आकर्षण होता था । आर्य-समाज के कामों में गुरुदत्त इतने लगे रहते थे और उनका प्रभाव इतना बढ़ गया था कि वह ला० साईंदास के दाहिने हाथ समझे जाने लगे । शीघ्र ही डी०ए० बी० कालिज की पाठ विधि तैयार की गई । आर्य प्रतिनिधि सभा बनाई गई । इन सब में गुरुदत्त का हाथ मुख्य रहा ।

सन् १८८६ में पं० गुरुदत्त ने एम०ए० की परीक्षा दी और उसमें वह बी०ए० की तरह पुनः सर्वप्रथम रहे । एम०ए० में उनका विषय पदार्थ-विज्ञान (Physics) था । एम० ए० में उन्होंने इतने नम्बर प्राप्त किये जितने अभी तक किसी भारतीय ने प्राप्त न किये थे अर्थात् आपने रिकार्ड बीट कर दिया । आश्चर्य तो यह है कि इन अध्ययन के दिनों में भी वे समाजों के उत्सवों पर जाते रहते थे । पण्डितजी के साथ एक ही मकान में रहने वाले बहुत से उनके साथियों ने बतलाया कि उन्होंने गुरुदत्त जी को कभी परीक्षा की तैयारी करते नहीं देखा । बल्कि उनका अधिकांश समय धार्मिक विषयों के वाद-विवाद में व्यतीत होता था । जिसको भी वैदिक सिद्धान्तों में तनिक सन्देह होता, गुरुदत्त के पास समाधान के लिये पहुँच जाता । कुछ भी हो, गुरुदत्त का एम०ए० पास करना युनिवर्सिटी की एक अपूर्व घटना है । युनिवर्सिटी में इतनी सफलता इससे पहले किसी ने प्राप्त न की थी । गुरुदत्त के शिक्षण काल (Educational Career) की धाक सर्वत्र फैल गई ।

वेद और योग प्रेम

बचपन में ही गुरुदत्त को प्राणायाम की धुन सवार हो गई थी। आठवीं श्रेणी में ही योग की धुन भी सवार हो गई । अजमेर की घटना ने योग के सीखने की इच्छा को बहुत ज्यादा बढ़ा दिया । लाहौर पहुँचकर गुरुदत्तजी ने योग-दर्शन का पढ़ना आरम्भ कर दिया । अपने आपको नियमपूर्वक निभाने के लिये आपने डायरी (प्रतिदिन के कामों का हाल) लिखना आरम्भ किया ।

डेविस महोदय की भक्ति

अमरीका के प्रसिद्ध लेखक व योगी श्री एन्ड्रो जक्सन डेविस के ग्रन्थों को पं० गुरुदत्त बड़ी भक्ति और प्रेम से पढ़ते थे । डेविस महोदय के विषय में वह कहा करते थे कि वह बड़ा भारी योगी है । डेविस महोदय एकान्त में अकेले कुछ बोलते रहते थे, उनकी जबान से जो शब्द निकलते थे, उन्हें एक व्यक्ति लिखता रहता था और बाद में वही विचार पुस्तक रूप में आ जाते थे ।

एम०ए० पास करने के बाद गुरुदत्त गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर में साइन्स के प्रोफेसर बनाये गये । यह पहले ही भारतीय थे जिनको यह पद-प्राप्त

हुआ, इससे पहले यहाँ सब प्रोफेसर अंग्रेज ही थे । कालेज में इनकी योग्यता और शिक्षण-शैली की धाक ज़म गई । दो तीन वर्ष तक आपने इस पद पर काम किया । बाद में आपने देखा कि उनके इस पद रहते हुए समाज के प्रचार और योगअभ्यास में विघ्न पड़ता है तो उन्होंने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया । यहाँ उन्हें केवल दो घण्टे काम करना पड़ता था । मगर वह अपना सुबह का समय योग अभ्यास में ही लगाना चाहते थे । कालेज के अधिकारियों और अन्य हितैषियों ने बहुतेरा दबाव डाला, मगर वह न माने । धुन के पक्के जो थे ।

योग के बाद दूसरी धुन वेदों का अर्थ समझने की सवार हुई । स्वामीजी का वेद भाष्य पढ़ना आरम्भ किया । वेद भाष्य को ठीक प्रकार समझने के लिये अष्टाध्यायी और निरुक्त का पढ़ना आरम्भ किया । आप अष्टाध्यायी को वेदद्वार समझते थे । इसका इनके साथियों पर इतना प्रभाव पड़ा कि मास्टर आत्माराम, पंडित रामभजदत्त और ला० मुन्शीराम की बगल में भी हर समय अष्टाध्यायी रहने लगी ।

गुरुओं के गुरु बने

स्वा० अच्युतानन्दजी एक अद्वैतवादी संन्यासी थे । इनसे पंडित गुरुदत्त उपनिषद् पढ़ा करते थे । गुरुदत्त के प्रश्न-उत्तर का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह अद्वैतवाद को छोड़ आर्य-समाजी बन गये । देहरादून के स्वामी महानन्द एक प्रसिद्ध दार्शनिक थे । पंडित गुरुदत्त ने कुछ दिन उनसे भी पढ़ा था, वह भी पं० गुरुदत्त के प्रभाव से ही आर्य समाजी बने थे ।

निःस्वार्थ सेवा

गवर्नमेण्ट कालेज से स्तीफा देने के बाद समाज के सदस्यों ने गुरुदत्त जी के निर्वाह का प्रबन्ध करना चाहा, परन्तु गुरुदत्त जी ने साफ इन्कार कर दिया । वह अपने उपदेश को बेचना पसन्द न करते थे ।

पिता की मृत्यु

सन् १८८६ में डी०ए० बी० कालेज के प्रचार और चन्दे के लिए बाहर प्रतिनिधि मंडल के भेजने का निश्चय हुआ । गर्मी की छुट्टियाँ थीं । पण्डित गुरुदत्त भी तैयार थे, परन्तु पिता के अधिक बीमार पड़ने से दल में शामिल न हो सके, इस पर आपने बड़ा खेद प्रकट किया । अगले वर्ष फिर पहले की तरह प्रतिनिधि दल भेजने का निश्चय हुआ, इस बार गुरुदत्त के पिता बीमार थे । किन्तु पिता बड़े देश प्रेमी थे । उन्होंने इस बार गुरुदत्त को न रोका । ज्योही गुरुदत्त वापिस लौटे, पिता की मृत्यु का समाचार मिला । मुल्तान तार दिया कि मेरे आने तक शव (लाश) रोके रखना । गुरुदत्त पहुँचे । बिरादरी

वाले पौराणिक रीति के अनुसार मृतक-संस्कार करना चाहते थे । लोगों ने गुरुदत्त की माता पर जरूरत से ज्यादा दबाव डाला, अन्त में गुरुदत्त के मन के अनुसार वैदिक ढंग से ही सब क्रिया की गई ।

पिता की मृत्यु पर गुरुदत्त को बड़ा दुःख हुआ । अभी इस दुःख से छूटे भी न थे कि उन्हें समाज में वार्षिक उत्सवों पर डी०ए०बी० कालेज की सहायता के लिए अपीलें करने के लिये निमंत्रण मिला । गुरुदत्त इस संस्था से बड़ा प्रेम करते थे, अपने सब कामों को छोड़कर चल दिए । उनके व्याख्यानों की झड़ी लग गई । धन बरसने लग गया । व्याख्यानों में अध्यात्म-ज्ञान उमड़ पड़ता था, जो लोगों को गद्‌गद् कर उनकी आँखों को अश्रुपूर्ण बना देता था । उनके व्याख्यानों में लोगों को असीम आनन्द प्राप्त होता था, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है ।

ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था, पं० गुरुदत्त का कार्य बढ़ता जाता था । बहुत से आदमी उनके घर पर शंका समाधान के लिए आते थे । शंका समाधान का यह क्रम हर समय जारी रहता था । दो संन्यासी तो हर समय गुरुदत्त के साथ लगे रहते थे । धार्मिक चर्चा हर समय चलती ही रहती थी । गुरुदत्त का घर अच्छा खासा संन्यास-आश्रम बन गया था ।

विदेशी पंडितों को मुँह तोड़ जवाब

यूरोप और अमरीका के बहुत से विद्वान संस्कृत, वेद और योग से प्रेम रखते आये हैं । जहाँ हम यूरोप वालों की उनके स्वाध्याय के कारण प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, वहाँ हम यह कहे बिना भी नहीं रह सकते कि विदेशियों ने बहुत से साहित्य का ठीक अर्थ न समझ सकने के कारण अपूर्व ज्ञान के भण्डार वेद के साथ काफी खिलवाड़ करने की कोशिश की । उन्होंने जहाँ गूढ़ साहित्य का रहस्य साधारण जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया, वहाँ उन्होंने साथ में ऐसी चालबाजी को अपनाया कि लोग उससे तुरन्त घृणा करने लग जायें । उनकी इस नीति में बहुत से कारण छिपे हो सकते हैं । हम यहाँ इसकी चर्चा करना उपयुक्त नहीं समझते । मोनियर विलियम्ज नामक विद्वान ने ``Indian Wisdom" (भारतीय बुद्धिमत्ता) की एक पुस्तक लिखी । इस पर गुरुदत्त ने बहुत से व्याख्यान दिये और इसमें जो त्रुटियाँ थीं उनको प्रकट किया ।

एक बड़ा काम जो पंडित गुरुदत्त जी ने किया वह उनका स्वर विद्या को पढ़ना और वेदमंत्रों के उच्चारण की शुद्ध रीति जारी करना था । यदि वह और कुछ न भी करते तो यही काम उनको महापुरुष की पदवी प्रदान कर सकता था ।

वेदों का प्रचार

वेदों के सच्चे अर्थों से शून्य होकर ब्राह्मण लोगों ने वेदों को कलंकित कर दिया था। वेदों पर से बहुत से लोगों की श्रद्धा जाती रही थी। नवीन शिक्षा से शिक्षित लोग वेदों के सम्बन्ध में हजारों भाँति-भाँति के प्रश्न किया करते थे। उन सबका युक्ति-युक्त, विज्ञान-सिद्धि उन्हीं के ढंग पर उत्तर देने के लिए एक व्यक्ति की भारी आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये पं० गुरुदत्त सोलहो आने ठीक उतरे। उन्होंने वेदों का स्थान आधुनिक साइन्स से उच्चतर प्रमाणित किया। सन् १८८८ में लाहौर आर्य समाज के उत्सव पर व्याख्यान देते हुए आपने कहा—"आधुनिक विज्ञान में चाहे कितने भी गुण क्यों न हों, वह चाहे हजारों वर्ष तक चीड़-फाड़ करता रहे, पर वह जीवन की समस्या का हल नहीं निकाल सकता। जीवन की समस्या का हल वेदों की सहायता के बिना नहीं हो सकता।" यह शब्द उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े तत्त्ववेदा पं० गुरुदत्त के हैं जिन्होंने पाश्चात्य विद्याओं के आधार पर वेदों के महत्त्व का दिग्दर्शन कराया। स्वामी दयानन्द अंग्रेजी भाषा में प्रवीण न होने के कारण पाश्चात्य विद्वानों के सम्पर्क में पूरी तरह न आ सके थे। गुरुदत्त ने इस काम को पूरा करके वेदों की सर्व-श्रेष्ठता का सिक्का पश्चिम के लोगों पर जमाया।

उपदेशक श्रेणी का आरम्भ

पं० गुरुदत्त ने डी०ए०वी० कालेज के लिये बड़े उत्साह से रात दिन अपीलें कीं, पर उस कालेज में उनका एक ध्येय-संस्कृत को मुख्य स्थान देना, पूरा न होने पाया। आर्ष ग्रन्थों की शिक्षा के बिना गुरुदत्त की मनोकामना पूरी होनी कठिन थी। उन्होंने एक उपदेशक श्रेणी खोल दी, और अष्टाध्यायी पढ़ाना आरम्भ किया। यह श्रेणी उनके घर पर ही लगती थी। इसमें छोटी बड़ी आयु के सभी विद्यार्थी आ जाते थे। इस श्रेणी के एक विद्यार्थी गुरुदत्त जी के मित्र एक्स्ट्रा एसिस्टैन्ट कमिश्नर महोदय भी थे। गुरुदत्तजी की इस श्रेणी में काफी विद्यार्थी पढ़ते थे किन्तु अधिकतर विद्यार्थी दफतरों में काम करने वाले क्लर्क थे जो दफ्तर के समय पर श्रेणी में न पहुंच पाते थे। दुःख है कि गुरुदत्त अपने जीवनकाल में गुरुकुलों के वर्त्तमान रूप को न देख सके। उनका स्वप्न ग्यारह वर्ष के बाद कार्य रूप में परिणत हुआ। आहा ! यदि गुरुदत्त ग्यारह वर्ष और जीते रहते तो अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द के साथ गंगा के किनारे के जंगल साफ करते होते। गुरुदत्त के शिष्य गुरुदत्त को डी०ए०वी० कालेज का प्रोफेसर और प्रिन्सिपल बनाना चाहते थे। किन्तु कालेज में व्याकरण और वेद कहाँ थे ? गुरुदत्त के रुचि के विषय में तो वेद और अष्टाध्यायी थे।

सफल वक्ता

पं० गुरुदत्त एक बड़े सुयोग्य वक्ता और अद्‌भुत व्याख्याता थे । वह केवल अंग्रेजी और हिन्दी के ही वक्ता न थे, परन्तु संस्कृत भी धाराप्रवाह बोल सकते थे । यदि पं० गुरुदत्त जीवित रहते अथवा उनकी उपदेशक श्रेणी चलती रहती तो आज आर्ष प्रणाली से संस्कृत पढ़ाने वाले विद्वान् पण्डितों की कमी न रहती ।

वानप्रस्थी होने का विचार

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों को पढ़ने से पं० गुरुदत्त के विचार आत्म-उन्नति के लिए बढ़ते जाते थे । वह गृहस्थ-साधु तो बन ही गये थे । उनका विचार गृहस्थ छोड़कर वानप्रस्थी बन जानें का हुआ । जब उन्होंने अपना यह विचार घर वालों के आगे रक्खा तो उन्होंने न माना । फिर गुरुदत्त ने यह सोचा कि कुटुम्ब का भार मुझ पर है, मेरे बिना सबको कष्ट होगा । यह विचार कर उन्होंने वानप्रस्थी बनने का ख्याल छोड़ दिया ।

वैदिक मैग़ज़ीन

सन् १८८९ के अप्रैल मास में डा० ओमन छुट्टी पर से आ गये और गुरुदत्त जी ने प्रोफेसरी से त्याग-पत्र दे दिया और कुछ समय पीछे वैदिक मैग़ज़ीन नाम का पत्र निकाला । जिसमें अधिकतर वेद सम्बन्धी लेख होते थे । आर्य समाज ने इस काम में उनको बड़ी सहायता दी । इस पत्र की धूम भारत और विदेश में फैल गई । भारत से बाहर के बहुत से पत्रों में इस पत्र की बड़ी प्रशंसा की गई थी । वैदिक मैग़ज़ीन साधारण मासिक-पत्र न था । इसे पंजाब के सभी शिक्षित लोग धर्म-पुस्तक की तरह पढ़ते थे । और इसके निकलने तक बड़े अधीर रहते थे । गुरुदत्त के प्रायः सभी ग्रन्थ इसी पत्र में क्रमशः छपते रहते थे ।

गुरूदत्त जी ने आत्मा की सिद्धि में भी कुछ ट्रैक्ट लिखे थे । गुरुदत्त जी के थोड़े से वर्षों के काम से अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि वह कुछ वर्ष और जीते तो संसार के (Orientalists) ओरियन्टलिस्टों में गिने जाते । उन्होंने मैक्समूलर के सभी ग्रन्थ, न्याय मीमांसा, वैशेषिक आदि दर्शन, मनुस्मृति और स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य सभी पढ़ लिये थे । उन्होंने अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति के सामर्थ्य से अधिक काम किया और शरीर की परवाह न की । इसी का परिणाम यह हुआ कि उनका स्वास्थ्य खराब हो गया, उन्हें जुकाम रहने लगा बाद में खाँसी और बुखार ने भी आ घेरा ।

बीमारी के कारण

बीमारी के प्रधान कारण कार्य की धुन में उनकी शरीर के प्रति लापरवाही है। जब वैदिक मैगजीन के लिये बैठते थे तो कई कई दिन तक घर से बाहर नहीं निकलते थे। ४८ घण्टे तक एक मिनट भी न सोते थे और पढ़ते रहते थे। वस्त्रों के पहनने का भी आप उचित ध्यान न रखते थे, सर्दी में जीन का सूट पहने फिरते और जेठ की कड़ी धूप में बराबर फिरते रहते थे। ऐसी स्थिति में कैसा ही बलवान् मनुष्य क्यों न हो, कब तक स्वस्थ रह सकता है। रोग ने आन दबाया और उसने उन्हें लेकर ही शान्ति ली।

गुरुदत्त के प्रेमियों ने उनके इलाज में बहुत सहायता की। अन्त में वहाँ आराम होता न देख उन्हें पहाड़ पर ले जाना ही ठीक समझा गया। उन्हें मरी ले जाया गया। मरी में उनके एक भक्त सरदार थे। इनकी सेवा में कोई त्रुटि न हुई, परन्तु फिर भी शरीर बहुत दुबला हो गया। इतनी दुर्बलता होने पर भी आप पेशावर समाज के उत्सव पर चले गये। इतना लम्बा सफर, ज़बर्दस्त व्याख्यान, उत्सव में क्रियात्मक भाग लिया, परिणाम वही हुआ जो होना था। लाहौर पहुँचकर खाट पर पड़े रहने योग्य हो गये। शरीर बिल्कुल निकम्मा हो गया। थोड़े दिनों के बाद कुछ आराम मालूम दिया, मगर फिर वही कालेज आदि के कार्यों में लग गये। फिर सख्त बीमार हो गये।

लाहौर में पण्डित गुरुदत्त को विशेष बंगले में रक्खा गया और पंजाब के नामी वैद्य नारायणदास से उनका इलाज कराया गया। इससे पहले पं० नारायणदास तपेदिक के कई बीमारों को अच्छा कर चुके थे। शुरू में कुछ आराम मालूम दिया, किन्तु वह बुझते दीपक की टिमटिमाहट मात्र थी।

मृत्यु-दृश्य

१८ मार्च का दिन था। रात के बारह बजे थे। पं० गुरुदत्त का मरण समय निकट आ गया था। अब वह कुछ घण्टों के मेहमान रह गये थे और इस संसार से अपना नाता तोड़ रहे थे। दुःखी संसार रंज मना रहा था। भक्त रैमलदास आदि बैठे पाँच पाँच मिनट में नब्ज टटोलते थे। पण्डितजी ने मरने से कुछ समय पूर्व वेद मंत्रों का उच्चारण किया, ईशोपनिषद् की कथा सुनी। दूसरे ही दिन प्रातः १९ मार्च १८९० ई० को संसार का यह महान् पण्डित स्वर्ग सिधार गया। पाश्चात्य संसार की आँखों को वैदिक ज्योति से चुंधिया देनेवाला अद्वितीय व्याख्याता इस संसार से सदा के लिये विदा हो गया। भक्त-मण्डल, माता और सन्तान सब विलाप करते रह गये। सबके लिये यह संसार असार और शून्य हो गया।

धर्म प्राण से प्यारा

जिस समय पण्डितजी अधिक निर्बल हो गये तो डाक्टरों ने उनको मांसाहार की सम्मति दी, परन्तु धर्म-प्राण गुरुदत्त भला कब मान सकते थे ? जिनका शरीर धर्म की उन्नति के लिये होता है, वह धर्म के प्रतिकूल कार्य कैसे कर सकते हैं ? डाक्टरों से पण्डितजी ने सवाल किया कि क्या मैं फिर अमर हो जाऊँगा ? जब मरना ही है तो थोड़े से जीने के लिए हिंसा अवलम्बन क्यों ? ''आपत्ति काले मर्यादा नास्ति'' को भी आपने न माना । आपने अपना जीवन मुनियों की तरह धर्मतत्त्वों के चिन्तन और मनन मं लगाया, अतः आपको मुनिवर भी कहा जाता है ।

पण्डित गुरुदत्त के देहान्त के दिन पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर के सब कालेज और कचहरी बन्द रहे । सारी शिक्षित जनता में शोक मनाया गया । ९ बजे के पहले ही पाँच छै सौ आदमियों की भीड़ पं० गुरुदत्त के मकान के आगे एकत्र हो गई थी, यद्यपि उस दिन न रविवार था और नहीं कोई अन्य अवकाश का दिन । पण्डितजी की माता को बिलख-बिलख कर रोते हुए देखकर कलेजा फटा जाता था । १० बजे शव का जुलूस निकाला गया । शव के साथ लगभग एक हजार व्यक्ति थे । रास्ते में दोनों ओर मनुष्य इस चमत्कारी महान् पुरुष के अन्तिम दर्शन के लिए पंक्ति बनाये खड़े थे । जगह-जगह छत पर से फूलों की वर्षा की जाती थी । १ बजे जुलूस श्मशान भूमि में पहुँचा । वेदी तैयार कर चिता बनाई गई और अन्त्येष्टि संस्कार नियम-पूर्वक किया गया । संस्कार के बाद हंसराजजी ने प्रार्थना कराई ।

मृत्यु के समय पण्डित गुरुदत्त २६ वर्ष के युवक थे । ऋषि दयानन्द के निर्वाण के बाद आप ६ वर्ष जीवित रहे । इन छः वर्षों में आपने वैदिक साहित्य की बड़ी भारी सेवा की, आर्य-समाज का प्रचार किया । अपने शरीर तक का इन कामों के लिए ध्यान न रखा । आपने कुछ उपनिषदों का अनुवाद किया था, जिसे 'पार्लियामेण्ट आफ रिलिजन्स' के अवसर पर अमरीका भेजा गया था । किसी अमरीकन ने उसे प्रकाशित करवायां है । आपने वेद का शब्दकोष लिखा था, जो ओक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में पढ़ाया जाता है । यह कार्य इस बात के साक्षी हैं कि मुनिवर पं० गुरुदत्त अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर रहे थे, परन्तु निष्ठुर मृत्यु ने उन्हें असमय में छीन लिया ।

पण्डित गुरुदत्त का जीवन आर्य-युवकों के लिए एक आदर्श वस्तु है, जिसके अन्दर उच्च प्रेरणाओं की काफी सामग्री मौजूद है । आशा है भारत के होनहार युवक गुरुदत्त के पद-चिह्नों पर चल कर उनको अमर बना देंगे ।

— ० —

२

वैदिक संज्ञा-विज्ञान

शब्द की उत्पत्ति, स्वरूप और नित्यता का प्रश्न संस्कृत साहित्य में बड़े महत्त्व का प्रश्न रहा है । इस प्रश्न के उस दार्शनिक स्वरूप में संदेह नहीं हो सकता, परन्तु वह असाधारण विशेषता, जो प्रत्येक संस्कृतज्ञ के ध्यान को आकर्षित करती है, इसके उस प्रभाव की सर्व व्यापकता है जो कि यह मानव ज्ञान के अन्य विभागों पर डालता है । प्राचीन संस्कृत समयों के निरुक्तकार, वैयाकरण और भाषा तत्त्ववेत्ता ही केवल इस प्रश्न को नहीं उठाते, अपितु मर्मज्ञ और सूक्ष्म दार्शनिक, अन्तिम और सर्वोत्तम संस्कृत मीमांसक, महामुनि व्यास के शिष्य, षड्दर्शनों में एक के प्रवर्त्तक, धर्मसूत्रकार जैमिनि भी इस प्रश्न के प्रभाव से अपने विषय को पृथक नहीं रख सके । अपनी मीमांसा के आरम्भ में ही वह इस विचार को उठाते हैं और अपने ग्रन्थ के एक बड़े भाग को (यथा प्रमाण) इस प्रश्न के स्पष्टीकरण में लगाते हैं । मानव-वाणी के सम्बन्ध में अनुकरणवाद और अन्य कृत्रिम वादों पर विवाद करने में निपुण, आधुनिक भाषातत्त्वविज्ञान के पाठक के लिये ऐसे प्रश्नों से उत्पन्न होनेवाले झगड़े की विशालता का अनुभव करना कठिन नहीं । संस्कृत साहित्य में जो स्थान इस विचार को दिया गया है, उसका उल्लेख हमने कुछ इस दृष्टि से नहीं किया कि इस सारे वितण्डा का अन्त कर दें, जो कदाचित् अनिवार्य है, प्रत्युत प्रश्न के उठाने में हमारा प्रयोजन यह है कि संक्षेपतः इसी विचारान्तर्गत एक अन्य और अधिक उपयोगी प्रश्न अर्थात् वैदिक संज्ञाविज्ञान की व्याख्या के प्रश्न को उठावें ।

आज पर्यन्त वैदिक संज्ञाविज्ञान की व्याख्या के लिये सारे स्वीकृत उपायों का आधार किन्हीं पूर्व कल्पित भावों पर रखा गया है। विषय की गम्भीरता चाहती है कि इस पूर्व—कल्पित भावों का सावधानता के साथ परीक्षण और अध्ययन हो, और इन में से इस बाह्य सामग्री को काट छाँट करके निकाल दिया जाय जिससे कि भ्रमोत्पत्ति की सम्भावना है, और साथ ही ऐसी नवीन और अधिक युक्तिसंगत रीतियों का अन्वेषण और व्यवधान करना चाहिये जिससे इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ सके ।

अस्तु, अब उन रीतियों की परीक्षा होनी चाहिये, जिनका आज तक अनुसरण होता रहा है । संक्षेप से, संख्या में वे तीन हैं, और कोई उत्तम नाम न मिलने के कारण वे पौराणिक, प्राक्कालीन और समकालीन शैली कहला सकती हैं ।

पहले पौराणिक शैली को लीजिये । यह शैली वेदों को मिथ्याकथा, धार्मिक परिकथा की कल्पनात्मक भाषा में साधारण नैसर्गिक तथ्यों का, चित्र, यथार्थ का रोचक में सांकेतिक प्रदर्शन, प्राथमिक सत्य का अनावश्यक आडम्बर और दिखलावे के ऊपरी स्तर में पड़ा होना प्रकट करती है । अब, जहाँ तक पौराणिक शैली के जाल-कर्म में विचार को इस प्रकार मूर्तिमान करने का सम्बन्ध है, यह मानव-जीवन और अनुभव की अपेक्षाकृत असभ्य और सरलावस्था को ग्रहण करती है । प्राथमिक जांगलिक दशा के इस आधार से शनैः शनैः ईश्वर और धर्म के भावों को विकसित करती है और ऐसा होते ही मिथ्या-कथाओं का काल समाप्त हो जाता है । आगे यह इस प्रकार युक्ति देती है—सभ्यता की प्राथमिक अवस्थाओं में, जब कि प्राकृतिक नियमों का ज्ञान कम होता है और उनकी समझ बहुत ही कम होती है, मनुष्य के मानसिक व्यापारों के संपादन में उपमा बड़े महत्व का काम करती है । थोड़ा सा भी सादृश्य अथवा सादृश्य का आभास ही उपमा के प्रयोग के प्रतिपादनार्थ पर्याप्त होता है । मानवीय अनुभव के असभ्य प्रारम्भों के ऐसे काल में स्थूलतम प्राकृतिक शक्तियाँ मानव मन को, प्रधानतः गतियों द्वारा प्रभावित करती हैं । वायु चलती हुई, अग्नि जलती हुई, पत्थर या फल गिरता हुआ, इन्द्रियों को सारतः जंगमवत् प्रभावित करता है । अब, शारीरिक बल के चेतन व्यवसाय के सारे क्षेत्र में, इच्छा क्रिया से पूर्व होती है और क्योंकि जगत् में एक असभ्य का अतिविषयानुभव भी इस ज्ञान को ग्रहण करता है, अतः ऐसा तर्क करना बुद्धि से अत्युक्ति का काम लेना नहीं कि यह प्राकृतिक शक्तियाँ, जिनसे इन्द्रियगोचर क्रियाएँ होती हैं, इच्छा शक्ति सम्पन्न हैं । प्राकृतिक शक्तियों में जब इस प्रकार चेतनत्वारोप हो जाता है तो फिर उनको देवता बनते कुछ देर नहीं लगती । वह प्रबल प्रताप, अप्रतिहत सामर्थ्य और प्रायः महावेग, जिससे कि एक असम्भव को ये शक्तियाँ काम करती दिखाई देती हैं उसके अन्दर भय, त्रास और पूजा का भाव उत्पन्न कर देती हैं । अपनी निर्बलता, दीनता और हीनता का भाव उस असम्भव मन को शनैः शनैः आ घेरता है, और बुद्धि द्वारा आरोपित चेतनत्व अब चित्त वेग से देवत्व को प्राप्त हो जाता है । इस मतानुसार, वेद, जो निस्संदेह आदिम काल की पुस्तकें हैं, ऐसे ही भाव-विशिष्ट पुरुषों की प्रार्थनाएँ हैं । यह प्रार्थनाएँ प्राकृत शक्तियों की हैं जिनमें कि आँधी और वर्षा भी सम्मिलित है । इन प्रार्थनाओं से असभ्य लोगों के बदला लेने तथा पूजा के मनोभावों का परिचय मिलता है ।

जब आनुमानिक मनोविज्ञान इन स्वीकृत तत्वों को, चाहे वे शुद्ध हों वा अशुद्ध, दे देता है तो फिर सापेक्ष भाषा-तत्वज्ञान और सापेक्ष मिथ्याकथाविज्ञान

उनको अतीव पुष्ट करते हैं। विविध देशों की मिथ्या-कथाओं की तुलना दिखाती है कि मानव बुद्धि का व्यापार समान है, तथा मिथ्याकथाओं के घड़ने का यह क्रम न केवल सब कहीं सार्वत्रिक ही है, प्रत्युत एक सा भी है। स्कन्डीनेविया, यूनान और भारत की देवमालाओं के जलवायु के प्रभावों से उत्पन्न होने वाले आकस्मिक भेदों के अतिरिक्त और कोई स्पष्ट भेद नहीं। सापेक्ष भाषातत्वज्ञान इन दृश्यचमत्कारों की सर्वव्यापकता और समानता को ही नहीं मानता, प्रत्युत भाषा तथा वेश में, जिससे कि वह चमत्कार आवृत्त होते हैं, उनकी स्वरसंवादी एकता को भी निर्देशित करता है।

इन तीन स्रोतों अर्थात् सापेक्ष भाषातत्त्वज्ञान, आनुमानिक मनोविज्ञान और सापेक्ष कथा विज्ञान से प्राप्त साक्षी वस्तुतः बहुत बड़ी है, और हमने इस शैली के स्वरूप का तथा उस साक्षी का वर्णन जिस पर कि इस की सिद्धि निर्भर है, अपेक्षाकृत अधिक इसलिये किया है कि कम से कम न्यायता के विचार से ही इस शैली का मूल्य और विशिष्टताएँ कम न समझी जाएँ।

सापेक्ष भाषातत्त्वज्ञान और सापेक्ष मिथ्याकथाज्ञान के परिणाम अस्वीकृत न होने चाहिये। वे हमारे विवाद में प्रारम्भिक स्थान या उपस्थित विषय में स्वीकृत सिद्धान्त हैं। इसलिये विवादाई स्थल इन से परे, वस्तुतः इनके नीचे है। वे ही तथ्य अर्थात् सत्य के निर्णीत विषय हैं। उनका समाधान कैसे होना चाहिये ? और अन्य सब वस्तुओं के समाधान के समान यहाँ भी विकल्प समाधान, प्रतिपक्षी, प्रतिज्ञाएँ, सदृश कल्पनाएँ उन्हीं तथ्यों और दृश्यचमत्कारों का सामना करने के लिये हो सकती हैं। विविध देशों की मिथ्या कथाएँ एक सी हैं, इसका समाधान दो प्रकार की प्रतिज्ञाओं से हो सकता है, एक यह कि मनोविज्ञान सम्बन्धी विकास के नियम सर्वत्र एक जैसे हैं अथवा यह सारी बातें मिथ्या कथा विज्ञान या धर्म के किसी सामान्य पैतृक क्रम से आविर्भूत हुई हैं। स्वरसंवादी समानताएँ, उनके संशयात्मक और प्रायः अनवस्थित स्वभाव को छोड़कर समान इन्द्रियों और स्वसंवादी नियमों के व्यापार तक अथवा किसी ऐसी सामान्य पैतृक भाषा तक जिससे कि अन्य सभी भाषाएँ निकली हैं, समानतया ढूँढी जा सकती हैं। न ही यह शैलियाँ प्रतिपक्षी कल्पनाओं के झगड़े को मिटाने का अधिकार रख सकती हैं। शैलियों के तौर पर केवल पुराण कथा या स्वरविज्ञान सम्बन्धी सादृश्य वा सम्बन्ध ढूँढ सकती हैं, पर उनका समाधान नहीं कर सकतीं। यदि हम प्राप्त परिणामों के विकल्पमय स्वभाव का विचार तक नहीं करें तो भी आनुमानिक सिद्धि की दृष्टि से, ये समाधान बहुत कम सापेक्षिक मूल्य रखते हैं। हम ऐसे तथ्य से समाधान नहीं ढूँढते, जिसकी स्थिति पूर्वज्ञात है, परन्तु जिस समय हम अपने अनुमान की सिद्धि मान रहे होते हैं

उसी समय हम अनुमान मात्र से किसी तथ्य का अस्तित्व मान लेते हैं । माने हुए अर्थात् कल्पित तथ्य का जिससे इष्ट समाधान ढूँढा जाता है, किसी स्वतन्त्र साक्षी से अनुमान नहीं किया जाता, परन्तु वह स्वयं संश्लिष्ट तथ्यों की स्वयं प्रत्यागमनीय परम्परा में एक शृङ्खला है । आगे देवमाला की वृद्धि किन्हीं मनोविज्ञान सम्बन्धी स्वीकृत तत्त्वों से अनुमान की जाती है । बड़ी ही आसानी से अनुमान हो सकता था कि यह एक पवित्रतर और सत्यतर धर्म का एक गिरा हुआ और टूटा हुआ पर बाद में मरम्मत करके लिपा पुता खण्डहर है । एक ग्रन्थकार ने वस्तुओं के (मतों को प्रधानतः सम्मिलित करते हुए) पतन का यदि वह अकेली छोड़ी जाय, अच्छा कथन किया है । न ही साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और सम्मतियों के इतिहास के विद्यार्थी से यह तथ्य किसी प्रकार छिपा है । कौन ऐसी धार्मिक रीतियों को नहीं जानता, जो पहले तो विशेष वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये घड़ी गई थीं, पर जो कलान्तर में इन आवश्यकताओं के न रहने पर केवल अनुष्ठानों और व्यवहारों में, जो आकस्मिक नहीं प्रत्युत आवश्यक माने जाते हैं, परिणत हो गईं । इस लिए मिथ्या कथाएँ तथा मिथ्या रीतियाँ या तो निगृहीत बुद्धि और जड़ीभूत तर्क के प्रभाव के नीचे काम करने वाली मानव कल्पना के फलों के रूप में उत्पन्न हो सकती हैं, या एक पवित्रतर और सत्यतर कर्म के अवशेष के परिणाम के तौर पर ।

इस विषय के सम्बन्ध में एक भी ऐसी प्रतिज्ञा नहीं, जिसके प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा न हो, एक भी ऐसी कल्पना नहीं जिसके स्वत्व किसी प्रतिपक्षी कल्पना से न टकराते हों । भाषा तत्त्वज्ञान और मिथ्याकथाज्ञान की प्रतिज्ञाओं के संदिग्ध स्वरूप को परे रखते हुए भी, उनसे निकाले गए परिणामों की अनिश्चितता दृष्टि से परे नहीं की जा सकती । अपनी "ग्रीस इन इण्डिया" नामक पुस्तक में पोकोक महाशय ने कुछ परिणाम निकाले हैं । उन्होंने सकल यूनानी भौगोलिक नामों का मूल संस्कृत भारतीय नामों से ढूँढा है और इससे वे यूनान का भारतीयों से उपनिवेशित होना निकालते हैं । इन परिणामों के समान उपरोक्त प्रतिज्ञानुसार प्राप्त किये गये परिणाम, वर्त्तुलाकार तर्क की, निरन्तर अपने में लौटने वाली एक पूर्ण माला बनाते हैं । सजाति सम्बन्ध को मान कर, जो कि यवन और संस्कृत भाषाओं के बीच पाया जाता है, यह अवश्य सिद्ध हो जायगा कि स्थानों के यवन नाम स्थानों के भारतीय नामों से दूरवर्ती और खेंचतान युक्त (सीधी और स्पष्ट के विरुद्ध) सरूपता को अवश्य रखेंगे । यूनान में आर्यों का बस्ती बसाना कोई ऐसा परिणाम नहीं जो विशिष्ट स्थल विवरण विषयक सम्बन्धों से यथार्थतया निकाला जाय, जैसी महाशय पोकोक ने यवन

और संस्कृत भाषाओं की सामान्य उत्पत्ति से स्वतन्त्र निकाला है ।

यूनानी और संस्कृत की उत्पत्ति की एकता एक ऐसा सामान्य सूत्र है जो ऐसे विशिष्ट सम्बन्धों से अधिक आगे सिद्ध नहीं हो सकता । मिथ्याकथाओं के अनेक प्रकारों और भाषाओं की सरूपता का तत्त्व एक स्पष्ट साधारण सिद्धान्त पर, अर्थात् मानव प्रकृति की एकरूपता पर भी पहुँचाता है । इस व्यापक सिद्धान्त के मूल्य से परे विशिष्ट मिथ्याकथा तथा भाषा विज्ञान सम्बन्धी तत्त्व कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं रखते । उनका मूल्य व्यापक सिद्धान्त में सम्मिलित हो जाता है । यह विशेष प्रतिज्ञाएँ, जब ठीक हों तो इनसे उस सामान्य प्रतिज्ञा का मूल्य बिल्कुल नहीं बढ़ता जिसको कि ये घड़ती हैं, परन्तु इसके गलत होने से उस प्रतिज्ञा की सच्चाई बहुत कुछ कम हो जाती है । प्रकृति के एक साधारण क्रम, अथवा एक सार्वलौकिक नियम के सुजातत्व पर आश्रित एक परिणाम, ऐसे क्रम या नियम के विशेष दृष्टान्तों की गणना से जो जाति में समान हों, कोई वास्तविक स्वतन्त्र और न्याय सम्मत बल प्राप्त नहीं कर सकता । सारी उपर्युक्त बातें एक दृष्टि से तुलनाजन्य देवमाला के प्रश्न पर प्रभाव डालनेवाली समझी जायँ । इनका वैदिक संज्ञाविज्ञान पर कोई स्पष्ट व्यक्तिगत प्रभाव नहीं । किन्तु एक और बात है जिसका वैदिक संज्ञाविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले देवमाला वाद से सीधा संसर्ग है । पूर्वकथनानुसार मिथ्याकथा विज्ञान मानव विचार को मूर्तिमान करने का ही फल है । अतः मिथ्याकथाविज्ञान का अमूर्त से बहुत बड़ा और पूरा पूरा भेद है ।

तत्त्वज्ञान का उद्देश्य, हरबर्त स्पेन्सर के मतानुसार चरम सत्यता अथवा नियमों का स्पष्टीकरण है । यह सत्य जहाँ तक वे अन्तिम हैं, अवश्यमेव अति व्यापक होने चाहिए । एक ही नियम के अधीन व्यक्तिगत तथ्यों का समुदाय जितना विशाल होता है, अथवा बहुपरिमित और प्रारम्भिक क्षेत्र पर कार्य करने वाले सूक्ष्म उपनियमों से अन्तिम नियम का अन्तर जितना अधिक होता है, उसका प्रकट करना उतना ही अधिक निगूढ़ और उतना ही कम स्थूल हो जाता है । अतएव तत्त्वज्ञान और मिथ्याकथाविज्ञान इस विषय में परस्पर विरोधी हैं । तत्त्वज्ञान निगूढ़ है, वह सामान्य शब्दों और चरमसूत्रों में प्रकाशित किया जाता है, मिथ्याकथाविज्ञान स्थूल है वह स्थूल प्राकृतिक शब्दों में प्रकाशित किया जाता है । यह प्राथमिक विषय में और विषयों के रूपों को प्रदर्शित करता है । अतएव तत्त्वज्ञान और दार्शनिक विचारों के वेदों में पाये जाने से बढ़कर देवमाला शैली के मूल्य का विध्वंसक और कोई नहीं । वेद तत्त्वज्ञान की पुस्तकें हैं, देवमाला की नहीं, यह बात केवल इसीलिये स्वीकृत न होनी चाहिये क्योंकि संस्कृत के एक सुप्रसिद्ध अध्यापक और विद्वान्, इस बात का प्रतिपादन करते

हैं कि मानव विचार और युक्ति का बीज वेदों में है पर उनके अनुसार उस बीज का विस्तार काण्ड के तत्त्वज्ञान में हुआ है, प्रत्युत अन्य और अधिक विश्वसनीय आधार और प्रमाणों पर इसे मानना चाहिए। संस्कृत वाङ्मय में तत्त्वज्ञान का विकास देवमाला की वृद्धि का पूर्ववर्ती है। उपनिषद् और दर्शन जो प्रतिज्ञापूर्वक तत्त्वज्ञान के ग्रन्थ हैं और निश्चय ही वेदों के निकटतर हैं, कालक्रमानुसार पुराणों से, जो कि भारतीय मिथ्याकथा-विज्ञान साहित्य की साक्षात् मूर्ति हैं, पूर्व के हैं और पीछे के नहीं। वेदों से तत्त्वज्ञान का विकास हुआ है देवमाला का नहीं। भारतीय साहित्य के इतिहास में कम से कम मिथ्याकथाविज्ञान से तत्त्वज्ञान का जन्म नहीं हुआ परन्तु तत्त्वज्ञान देवमाला का पूर्ववर्ती है। मिथ्याकथाविज्ञान सत्य और पवित्र धर्म या तत्त्वज्ञान के विकृत अवशेष और शरीर से बाहर को निकाली हुई गिलटी की तरह कहाँ तक उठ सकता है, यह बात अब कदाचित् पर्याप्त स्पष्ट हो चुकी है। अब षड्दर्शन, सारे के सारे, वेदों पर स्थित हैं। और अपने आप को वेदों के साक्षात् उद्धरणों से पुष्ट करते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञान वेदों से न केवल विकसित किया गया है प्रत्युत सारतः निकाला गया और विकसित किया गया या बाद में सम्बन्धित किया गया है। एक और केवल एक, आक्षेप है जो उपर्युक्त विचारों के विरुद्ध खड़ा किया जा सकता है। वह यह है कि वेदों के विविध विभाग विविध कालों से सम्बन्ध रखते हैं। क्योंकि जहाँ कई विभाग मिथ्याकथा सम्बन्धी हैं वहाँ दूसरे निश्चय ही तत्त्वज्ञान सम्बन्धी हैं। हम यहाँ वह नहीं कहेंगे जो पूर्व से ही प्रसिद्ध हैं। अर्थात् चाहे कैसा ही हो, वेदों की एक पंक्ति भी दर्शनों या उपनिषदों के पीछे नहीं। पुराणों का तो कहना ही क्या ? वेदों के विविध विभागों के निर्णीत कालों में कितना ही अधिक अन्तर क्यों न हो, कृत्रिम तर्क का कोई विस्तार उन्हें पौराणिक समय के साथ नहीं मिला सकता। इन विवेचनाओं से स्वतन्त्र जो फिर भी आवश्यक हैं, वेदों के लिए विविध कालों का निर्णय करना ही देवमाला क्रम की न्यूनता और आंशिक रूप को सिद्ध करता है। देवमाला क्रम की सच्चाई वेदों के भागों के पृथक्त्व पर निर्भर है। वेद समष्टि रूप से इस प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते, किन्तु उनके अलग अलग खण्डों से इसकी कुछ झलक दिखाई देती है। परन्तु हमारे पास इन खण्डों के विच्छेद करने की या समानभाव पिण्ड को तोड़ने की क्या युक्ति है ? केवल यही कि वे दो भिन्न कालों से सम्बन्ध रखते हैं। अब ऐसी प्रतिज्ञा कि यह खण्ड दो भिन्न कालों से सम्बन्ध रखते हैं स्वयं देवमाला शैली की अपर्याप्ति पर आश्रित हैं। यदि वे सारे वेदों की एक ही देवमाला शैली से व्याख्या कर सकते तो उन्हें पृथक् पृथक् करने की कोई आवश्यकता न होती। ऐसा वे न कर सकते थे, अतएव विच्छेद किया। देवमाला शैली के आंशिक रूप का दोषमुक्ति विविध कालों

के निर्देश की सत्यता पर निर्भर है, पर इस निर्देश के लिए देवमाला शैली की अपर्याप्ति के सिवाय और कोई प्रमाण नहीं। तब, इस प्रकार, देवमाला शैली का आंशिक रूप स्वभावतः स्वयं पर्याप्त समझा जाता है। तब इस विषय के आरम्भ में गिनी हुई तीन शैलियों में पहली, स्वतन्त्र विचारी हुई, इससे कुछ अच्छी नहीं ठहरती, और अन्ततः वेदों के दार्शनिक स्वरूप के मुकाबले में अनुत्तीर्ण होती है। अब इस द्वितीय शैली का विचार करेंगे।

पुराने साहित्यक लेखों के खोलने की अति सरल रीतियों में से एक प्रक्कालीन या ऐतिहासिक शैली है। इसका काम है, हस्तगत लेखों के व्याख्यान और स्पष्टीकरण के लिए, उन्हें, यथासम्भव, उस काल के सामान्य साहित्य और पुस्तकों के निकट ले आना। इस स्पष्ट कारण से, कि प्रत्यक्ष सदा उच्छिष्ट ज्ञान से उत्तम समझा जाता है, इस शैली का प्रत्यक्ष के सम्मुख कोई मूल्य ही नहीं। अब जहाँ तक ऐतिहासिक खोज का क्षेत्र है, जहाँ तक कि गत शताब्दियों के अध्ययन का सम्बन्ध है, वहाँ एक पुरुष को सब कुछ जानने के लिए, निस्सन्देह, उसी काल सम्बन्धी साहित्य और ऐतिहासिक लेखों का आश्रय लेना पड़ता है जिसके साथ कि उसका सम्बन्ध है और उन अवस्थाओं की परीक्षा, जो ऐसी साक्षी को मानवीय और इस पर किये गये श्रम को सफल करती हैं, ऐतिहासिक खोज के नियमों को स्थापित करने के लिए आवश्यक होती है। इस रीत्यनुसार पुरातन घटनाओं के हमारे ज्ञान की सत्यशीलता दो बातों पर निर्भर है, पहले तो तत्कालीन घटना या घटनाओं से सम्बन्ध रखने वाले लेखों की, जिन्हें कि हम प्राप्त करते हैं, यथार्थता पर और दूसरे लेखों के हमारे व्याख्यान की यथार्थता पर। पहली बात की चीर-फाड़ हम छोड़ देंगे, क्योंकि अपनी साक्षी के सम्मान के लिए वह ऐसे नियमों की उत्तरदायिनी है जो कि हमारे विषय में परिमाण में नहीं आते। हमारा सीधा सम्बन्ध तो लेखों की व्याख्या के साथ है।

ऐतिहासिक या प्राक्कालीन शैली की अपूर्वता इस बात में है कि इससे पुराने लेखों की व्याख्या में हमें अशुद्धि का कम भय रहता है। इसका कारण इस प्रकार समझाया जा सकता है जीवित या इन्द्रिय-युक्त वृद्धि वाली दूसरी सब वस्तुओं के समान, भाषा निरन्तर विकारों के अधीन है। यह विकार कुछ तो स्वरसम्वाद सम्बन्धी इन्द्रियों के विकास के नियमों के अधीन है, कुछ विदेशी भाषाओं के आगमन और सम्मिश्रण की बाह्य अवस्थाओं के और कुछ मानव विचार ही के विकास के नियमों के अधीन है। इस ओर दूसरे कई कारणों से, सारी जीवित भाषाएँ प्रतिदिन बदल रही हैं। यह परिवर्तन एकत्र होते रहते हैं और एक पर्याप्त काल के पीछे अतीव भिन्न यद्यपि सजातीय, भाषाओं को उत्पन्न करते हुए प्रतीत होते हैं। अतएव कोई वस्तु, चाहे विचार हो या

दर्शन-शास्त्र, जो भाषा सम्बन्धी वस्त्र पहने हुए हैं, उसके सत्य व्याख्यान के लिए आवश्यक है कि वे नियम, जो भाषा सम्बन्धी विकारों और शब्दों के अर्थो के विकारों को नियन्त्रित करते हैं, ध्यानपूर्वक पढ़े जायें । अन्यथा, हमारी व्याख्या भ्रम और काल गणना प्रमाददोष से दूषित होगी । आओ, एक वास्तविक दृष्टान्त को लें, अर्थात् रोमन प्रजातन्त्र राज्य का विषय सोचें । रोमन प्रजातन्त्र राज्य के काल में, मुद्रणालय अज्ञात था, समाचार पत्र अश्रुत थे, लोकोमोटिव इन्जन्स का स्वप्न न था, और दूसरे प्रकार, जो मानव विचार या तर्क के अविनाशी संस्कार के संचार को उत्पन्न या सरल करते हैं, विचारे न गये थे, और जब फोरमΣ मात्र सब श्रोताओं के आश्रय का स्थान था, और वाक् शक्ति आधुनिक समय की अपेक्षा सर्वथैव भिन्नार्थ रखती थी, तब सेनेट अर्थात् अन्तरंग सभा उस संस्था को न जताती थी जिसे कि वह अब जताती है । जैसी 'जाति' उन दिनों में थी उसका प्रजातन्त्र या प्रजासत्तात्मक राज्य आजकल के कुछ कुछ अल्प स्वाविक राज्य के समान होगा, यद्यपि कई आवश्यक अंशों में इससे भी बहुत भिन्न होगा । अब, एक पाठक, जो रोमन प्रजातन्त्र राज्य सम्बन्धी काल के साहित्य का पाठ कर रहा है, वह उस काल सम्बन्धी अपने ज्ञान को वास्तविक घटनाओं के विपरीति पाएगा, यदि अपने पाठों में अनिर्दिष्ट होने के कारण, प्रजासत्तात्मक प्रजातन्त्र और दूसरे ऐसे शब्द उनके मन के सामने वह अर्थ ले आवें कि जिन्हें यह आज जानते हैं । ऐसा ज्ञान परस्पर असम्बन्ध होगा, दो युगों की खिचड़ी होगी और फिर ऐसा होगा कि जो सूक्ष्म परीक्षा पर प्रलापमात्र कहा जायेगा ।

तीसरे समकालीन शैली है । इतिहास के क्षेत्र में इस रीति के प्रयोग निस्सन्देह, विविध और आवश्यक हैं । परन्तु तिथियों के निर्णीत करने और पुराणों, दर्शनों, उपनिषदों, मनु, रामायण और महाभारत इत्यादि के समयों का अनुक्रम निरूपण करने में भी इसके प्रयोग कुछ कम आवश्यक नहीं । अनेक अध्यापकों ने इन ग्रन्थों की तिथियाँ निर्णीत करने का, उनमें किन्हीं सुनिर्णीत स्थिर ऐतिहासिक बातों को, प्रायः वृथा ढूँढ़ते हुए, व्यर्थ श्रम किया है । परन्तु इन तिथियों को निर्णीत करने में संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक विकास का ज्ञान कहीं बढ़ कर आवश्यक है । पुराणों की संस्कृत महाभारत और दर्शनों की संस्कृत से इतनी भिन्न है और फिर दर्शनों की संस्कृत उपनिषदों की संस्कृत से इतनी भिन्न है कि इन सबों में एक स्पष्ट सीमापरिच्छेद रेखा आसानी से खींची जा सकती है । यह दूसरे से मिलाया नहीं जा सकता ।

यह अत्याश्चर्य और विस्मय की बात है कि वेदों के विषय में यह जिस

Σ फोरम पुराने रोम में एक स्थान था कि जहाँ मुकदमे सुने जाते थे और वक्तृताएँ की जाती थीं ।

शैली के कि गुण इतने प्रत्यक्ष और स्पष्ट हैं और जो इतिहास के क्षेत्र में इतनी सुप्रमाणित है, प्रयुक्त न की गई हो, या ऐसी शिथिलता और असावधानता से प्रयुक्त की गई हो जिससे संस्कृत के कई अति सुप्रसिद्ध अध्यापकों के वेदों के आधुनिक व्याख्यान समझ से अत्यन्त परे और अनर्थक बन गये।

वेदों के विषय में संस्कृत के समस्त विज्ञ अध्यापकों ने, जिनके कि वेदों के भाषान्तर इतने प्रसिद्ध हैं, अपना जीवन, महीधर, रावण और सायण के भाष्यों से लिया है जो लेखक निश्चय ही वेदों के काल से बहुत पीछे के हैं और हमारे अपने ही काल से आ मिलते हैं। यह लेखक स्वयं वैदिक संज्ञा विज्ञान से इतने अपरिचित थे जितने कि हम हैं। उनके वैदिक संज्ञाओं के व्याख्यान, उनके अपने समयों में प्रचलित अर्थो के अनुसार, उतने ही अशुद्ध थे, जितने कि हमारे अध्ययन में आने वाले, पुराने रोम सम्बन्धी प्रजासत्तात्मक आदि शब्दों के होंगे। महीधर और सायण हमारी अपेक्षा कुछ सुस्थित न थे। यह अद्भुत प्रतीत होता है कि सायण और रावणकृत वेद व्याख्यानों के स्वीकार करने में, हमारे आधुनिक संस्कृत अध्यापक, यह अमूल्य सिद्धांत भूल गये कि वेदों के व्याख्यानों के लिए हम जितना वेद सम्बन्धी-काल के साहित्य के समीप पहुँचेंगे, उतने ही हमारे व्याख्यान के संभवतर और शुद्धतर होने की अधिक सम्भावनाएँ होंगी। इन अध्यापकों ने वेदों की जो तिथि निश्चित की है, उसके अनुसार उनका वेदों का व्याख्यान एक ऐसे काल के साहित्य पर स्थित होगा, कि जो वेदों के काल और भाव से इतना विरुद्ध है कि भ्रम और भ्रान्ति के सिवा और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता।

किसी निष्पक्ष पाठक की दृष्टि में, जिसने कि इस प्रसंग पर गोल्डडस्टकर की गवेषणाओं का अध्ययन किया है, तिथियों का सारा भवन भस्मीभूत हो जाता है, और आधुनिक स्वीकृत काल-निर्णय-विद्या की सारी शैली अनायास उलटी जाती है। इस विषय पर सर्वोत्तम (और वे हैं वस्तुतः, निकृष्टतम) प्रामाणिक पुरुषों के अनुसार ईसा के पाँच छः सहस्र वर्ष पूर्व के कोई ग्रन्थ थे, यह प्रतीत नहीं होता। सारा संसार ८,००० वर्षों के अन्दर लपेटा जाता है। मनुष्य के मानसिक व्यवसाय का सारा क्षेत्र ईसा से ६,००० वर्ष पूर्व में एकत्र किया हुआ प्रतीत होता है।

इन विचारों की उपेक्षा करते हुए आओ, हम सीधा वेदों के विषय को लें। शतपथ और निरुक्त, निःसन्देह, सायण, रावण और महीधर के भाष्यों से बहुत पूर्व काल के ग्रन्थ हैं। हमें तो, पुराणों के, और महीधर के काल की अपेक्षा, वेदों के व्याख्यान के लिए उनका और उपनिषदों का आश्रय लेना चाहिए।

उपनिषदें अद्वैत (एकेश्वरवाद) की शिक्षा देती हैं। उपनिषदों और

शतपथ में कहा, इन्द्र, मित्र और वरुण देवताओं को जानते हैं और देव को नहीं ? निरुक्त भी वेदों के संज्ञा-विज्ञान सम्बन्धी स्पष्ट नियम स्थिर करता है कि जिनकी आधुनिक अध्यापकों ने सर्वथा उपेक्षा की है।

निरुक्तकार अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही बलपूर्वक शिक्षा करता है कि संज्ञायें जो वेदों में प्रयुक्त हैं वे रूढ़ि (सांकेतिक, मनघड़न्त, और संहत अर्थ वाली संज्ञाओं के) मुकाबिले में यौगिक (धातुनिष्पन्न अर्थ वाली) हैं। हम किसी आगे वाले अवसर पर निरुक्त से सम्पूर्ण वाक्य उद्धृत करेंगे और इस सिद्धान्त की अधिक अच्छी व्याख्या करेंगे। यहाँ तो हमने केवल वही कहा है जो निरुक्त की प्रधान प्रतिज्ञा है। इस प्रतिज्ञा का समर्थन महाभाष्य और संग्रह सहित इस विषय के दूसरे प्राचीनतर ग्रन्थ करते हैं।

वेदों के संज्ञा-विज्ञान के प्रश्न के विचारने में जिस मुख्य विधि का हमने अनुसरण किया है, यदि वह ठीक है तो जिस परिणाम पर हम पहुँचे हैं, वह निम्नलिखित जिज्ञासा पर पहुँचाता है :—

इस विषय पर पुरातन वैदिक विद्वानों की क्या सम्मति है ? क्या निरुक्त, निघण्टु, महाभाष्य और संग्रह के लेखक, और दूसरे पुराने भाष्यकार, आधुनिक भाष्यकारों अर्थात् रावण, सायण, महीधर और दूसरों से जिन्होंने कि गत कुछ दिनों से उसी विधि का अनुसरण किया, एकता रखते हैं, या वे आधुनिक लेखकों से मतभेद रखते हैं और यदि उसमें भेद है तो जैसा पूर्वोक्त वचनों ने स्पष्ट कर दिया होगा, विश्वास अवश्य ही पुराने भाष्यकारों पर करना चाहिए, अस्तु, आओ, इस विषय पर पुराने ग्रन्थकारों के विचारों की परीक्षा करें।

स्थूल रूप से कहें तो संस्कृत भाषा में तीन श्रेणियों के शब्द हैं अर्थात् यौगिक, रूढ़ि और योग रूढ़ि शब्द। यौगिक शब्द वह है कि जो धातु निष्पन्न अर्थ रखता है अर्थात् जो केवल अपने धात्वर्थ और अनुबन्धों के प्रभाव से हुए हुए विकारों के साथ अपने अर्थ को जनाता है वस्तुतः रचना सम्बन्धी अंग, जिनमें से कि शब्द संयुक्त किया जाता है। शब्द के शब्दार्थ के लिए सहारा और केवल पता दे देते हैं। अब इनका ज्ञान हो जाता है तो शब्द के अर्थ को पूर्ण करने के लिए और कोई अंग आवश्यक नहीं होता। यदि आधुनिक तर्कशास्त्र की भाषा में कहें तो शब्द सारा अर्थगर्भ है और अपने गर्भितार्थ के प्रभाव से ही अपना निर्देश निश्चित करता है। रूढ़ि शब्द किसी नियत संहत सांकेतिक अर्थ को, अपने किन्हीं गर्भितार्थों के प्रभाव से नहीं प्रत्युत मनघड़न्त नियममात्र के प्रभाव से जानता है। एक यौगिक शब्द की अवस्था में हम किसी पदार्थ के नाम पर सामान्यवाद की विधि से पहुँचते हैं। हम देखते, चखते, छूते, सूँघते और पदार्थ पर उन विविध साधनों से काम करते हैं, जिन्हें कि

मनुष्य प्रत्यक्ष पदार्थों के गुणों के जानने के लिए रखता है। हम इन प्राप्त इन्द्रियगोचर संस्कारों की अपने मनों में पूर्व संरक्षित और हमारे भूत-ज्ञान के बनाने वाले इन्द्रियगोचर संस्कारों से तुलना करते हैं। हम दोनों से समानताओं को ढूँढ़ते हैं और इस प्रकार एक सामान्य या एक व्यापक विचार प्राप्त करते हैं। इस व्यापक विचार को हम एक धातु एक आदिम विचार या सांयोगिक विधि द्वारा पहुँच कर एक संहत नाम देते हैं। अतएव अन्ततः इस प्रकार बना हुआ शब्द मनुष्य के मानसिक व्यवसाय के सारे इतिहास को अपने अन्दर रखता है। एक रूढ़ि शब्द की अवस्था में विधि बहुत भिन्न है। हम सामान्यता नहीं लाते और न ही इसलिए किसी संयोग की आवश्यकता है। हम केवल स्थूलतया एक पदार्थ या पदार्थों की श्रेणी को दूसरे पदार्थों से पहचानते हैं और इस एक स्वच्छन्द प्रकार से स्वरसंवादी मोहर लगा देते हैं। एक व्यक्ति, स्थूलतया दूसरों से पहचाना जाने के लिए, स्वच्छन्दता से राम कहा जाता है और दूसरा कृष्ण, ऐसे ही एक पदार्थ स्वच्छन्दता से खट्वा कहा जाता है और दूसरा माला इत्यादि। यहाँ, हम पदार्थ के सामान्य सम्बन्ध में आये बिना, पहचान मात्र से उस पदार्थ का निर्देश करते हैं जिसे कि हम नाम दे रहे हैं।

शब्दों की तीसरी श्रेणी अर्थात् योगरूढ़ि वह है जिसमें कि दो शब्दों का संयोग सम्बन्ध द्वारा एक समास बनाया जाता है। यह समस्त शब्द इन दोनों शब्दों के संयोग के प्रभाव से एक तीसरी वस्तु को जनाता है। ऐसे शब्द दृश्य चमत्कार के किसी सम्बन्ध या इतरेतर प्रभाव को दर्शाते हैं। उदाहरणार्थ कमल का सम्बन्ध धारणकर्त्ता कीचड़ से उत्पन्न होने का है। अतएव कमल को पंकज कहा जाता है (पंक-कीचड़) और ज—उत्पन्न होना)।

अब महाभाष्य का मत है कि वैदिक संज्ञा विज्ञान यौगिक है।

''नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्''।

''नैगम रूढिभवं हि सुसाधु''। महा० अ० ३। पा० ३। सू० १।

जिसका अर्थ है कि :—

शब्द व्युत्पत्ति विद्या का कथन करते हुए शब्द तीन प्रकार के हैं अर्थात् यौगिक, रूढ़ि, और योगरूढ़ि। परन्तु यास्क आदि निरुक्तकार और वैयाकरणों में शाकटायन, सब शब्दों को धातु से निष्पन्न अर्थात् यौगिक और योगरूढ़ि ही मानते हैं और पाणिनि आदि उन्हें रूढ़ि भी मानते हैं। परन्तु सब ऋषि और मुनि, पुरातन ग्रन्थकार और भाष्यकार निःशेष, वैदिक संज्ञाओं को यौगिक और योगरूढि ही मानते हैं तथा लौकिक शब्दों में रूढि भी मानते हैं।Σ

Σ मूल ग्रन्थ में उपर्युक्त वाक्य ऋषि दयानन्द सम्पादित ग्रन्थ के एक वाक्य का अनुवाद मात्र है। अतः हमने कुछ परिश्रम के साथ यह वाक्य नामिक से ही उद्धृत कर दिया है।

उपर्युक्त महाभाष्य का स्पष्ट और निश्चित वचन है कि वैदिक संज्ञाएँ सब यौगिक हैं । निरुक्त, संग्रह और दूसरे पुराने ग्रन्थों से, अनेक और लम्बे उदाहरण देकर यह सिद्ध करना कठिन नहीं है, कि वह सारे वैदिक शब्दों के स्वरूप के बारे में सहमत हैं ।

तब, इस विषय के विस्तार में न जाकर, यह माना जा सकता है कि पुरातन कालों के वैदिक ग्रन्थकार आधुनिक ग्रन्थकारों से सहमत नहीं है ।

यह अद्‌भुत वार्ता प्रतीत होती है कि हमारे आधुनिक संस्कृताध्यापक, निपुण भाषातत्वज्ञ और माने हुए प्राचीन वस्तुशोधक इतने बल से "प्राक्कालीन शैली" का मूल्य प्रतिपादन करते हैं और फिर इस भारी प्रश्न के प्रारम्भ में ही भारी भूल कर जाते हैं ।

उपर्युक्त वचनों के उपरान्त, हमारे आधुनिक हरिवर्षीय पंडितों को वेदों में देवमाला सम्बन्धी उपन्यासों की तलाश में, अथवा "उस असभ्य गीतों की पुस्तक" में अशिष्ट पीतल काल या सुवर्ण काल की बातों की खोज में मग्न देखकर कुछ भी आश्चर्य नहीं होता ।

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी उस कलि की भाँति थे जो खिलने से पूर्व मुरझा गई । रजत श्वेत एवं शीतल ओस की भाँति वह संतप्त धरा की प्यास बुझाने आए, पर क्षण में ओझल हो गए । अमावस्या की घोर निशा में प्रकाशपुंज बनकर आए पर कब उदय हुए, कब चमके, कब छिप गए—पता ही न चला । इतना छोटा था उनका जीवनकाल । लोग देखते रह गए । यह धरती उन्हें रहने के योग्य नहीं जँची थी क्या ?

महत्त्व अवधि का नहीं, दिव्यता का है । दिव्यगुणों के कारण उनका यह छोटा-सा जीवन प्रेरणा का अविरल स्रोत है ! वे गुणों के भण्डार थे । वे थे एक पितृभक्त पुत्र, सहृदय सखा, कुशल खिलाड़ी, धुन के धनी, अदम्य उत्साह की मूर्ति, विस्मयोत्पादक प्रतिभा के स्वामी, अपरिमित ज्ञान के भंडार, विद्यावारिधि, मनमोहक कवि, योग्य लेखक, गम्भीर दार्शनिक, उत्कृष्ट वैज्ञानिक, ओजस्वी वक्ता, कुशल सम्पादक, सफल अध्यापक, सुलझे हुए शिक्षा-शास्त्री, तपस्वी प्रचारक, प्रबल सुधारक, निर्भीक नेता, सच्चे योगी, तपोनिष्ठ मुनि, वेद-शास्त्रों के मर्मज्ञ, समर्पित सत्य अन्वेषक परम ऋषिभक्त, ईश्वरानुरागी.....। इन्हीं गुणों के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे अमिट छाप छोड़ गए ।

—डॉ रामप्रकाश

३

वैदिक संज्ञा-विज्ञान* और योरूपीय विद्वान्

वैदिक संज्ञा-विज्ञान का प्रश्न हमारे लिये बड़े ही महत्त्व का है, क्योंकि वैदिक तत्त्वज्ञान की श्रेष्ठता के विषय में पूर्व और पश्चिम के बीच जो घोर विवाद होने वाला है उस पर आने वाली पीढ़ियों का निर्णय इसी प्रश्न के निश्चय पर अवलम्बित है। अब भी इस प्रश्न का निर्णय बहुमूल्य परिणाम पैदा करता है, क्योंकि यदि वैदिक तत्त्वज्ञान सत्य हो तो वेदों की व्याख्यायें जैसी कि अध्यापक मैक्समूलर और अन्य यूरोपियन विद्वानों द्वारा सम्प्रति की जाती हैं वे न केवल अधूरी, दोषयुक्त और अपूर्ण होंगी, प्रत्युत सर्वथा मिथ्या ही समझी जाँएगी। यथार्थ तर्क निर्दोष विद्वत्ता के प्रकाश में हम वैदिक भाषा और तत्त्वज्ञान के मूलतत्त्वों से ही उनकी निःशेष अनभिज्ञता मानने के लिए बाधित होते हैं। केवल हमारा ही यह विचार नहीं, शोपनहार कहता है "इसके साथ मैं वह संस्कार बताता हूँ जिसे यूरोपियन विद्वानों के समस्त संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद मेरे मन पर उत्पन्न करते हैं। मैं इस विशेष सन्देह को रोक नहीं सकता कि हमारे संस्कृतज्ञ संस्कृत पाठों को उतना ही समझाते हैं, जितना कि स्कूल के विद्यार्थियों की उच्च श्रेणियाँ अपनी ग्रीक या लैटिन को समझाती है। यहाँ अपने समय के संस्कृत के परम विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती की एतद् विषयक सम्मति पर ध्यान देना अच्छा होगा। वह कहता है, जो लोग कहते हैं कि जर्मनी देश में संस्कृत विद्या का बहुत प्रचार है और जितना संस्कृत मोक्ष मूलर साहब पढ़े हैं उतना कोई नहीं पढ़ा यह बात कहने मात्र है क्योंकि **"निरस्तपादपेदेशे एरण्डोऽपि द्रुमायते"** अर्थात् जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता उस देश में ऐरण्ड को ही बड़ा वृक्ष मान लते हैं। वैसे ही यूरोप देश में संस्कृत विद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगों और मोक्ष मूलर साहब ने

---

* इस नाम का एक प्रबन्ध १८८८ ई० के आरम्भ में लेखक ने प्रकाशित किया था। परन्तु वह संक्षिप्त और अपूर्ण ही था। अब यह उचित समझा गया है कि उन्हीं विचारों और नियमों को एक नया रूप दिया जाय जो आधुनिक पाठक जनों की आवश्यकताओं के अधिक उपयुक्त हो, तथा रोचक दृष्टान्तों द्वारा उन्हीं सत्यों का विस्तार किया जाय और उनके साथ दृष्टान्त जोड़े जायें जो विषय की विवेचना के पूर्त्यर्थ आवश्यक हैं।

थोड़ा सा पढ़ा, वही उस देश के लिए अधिक है....मैंने जर्मनी देश के निवासी के एक प्रिन्सिपल के पत्र से जाना कि जर्मनी देश में संस्कृत चिट्ठी का अर्थ करनेवाले भी बहुत कम हैं। और मोक्ष मूलर साहब के संस्कृत साहित्य थोड़ी वेद की व्याख्या देखकर मुझको विदित होता है कि मोक्षमूलर साहब ने इधर उधर आर्यावर्त्तीय लोगों की दी हुई टीका देखकर कुछ कुछ यथा तथा लिखा है।"+

यूरोपियन विद्वानों में वैदिक पाण्डित्य की यह न्यूनता, वैदिक भाषा और तत्त्वज्ञान से उनकी पूर्ण अनभिज्ञता ही हमारे देश में भी इतने कुसंस्कार और पक्षपात का कारण है। वस्तुतः हमें हमारे अपने ही भाई, जिन्होंने उच्चतम अंग्रेजी शिक्षा पाई है पर जो सर्वथा संस्कृत शून्य हैं, प्रायः बड़े अधिकार से कहते हैं कि वेद ऐसी पुस्तकें हैं, जो प्रतिमाओं और प्राकृतिक तत्त्वों के पूजन की शिक्षा देती हैं, जिनमें पाठशाला की साधारणतम स्वतः सिद्ध सचाइयों से बढ़कर और कोई बड़े महत्त्व की दार्शनिक, नैतिक या वैज्ञानिक सच्चाई नहीं। अतएव इन हरिवर्षीय विद्वानों के व्याख्यानों के उचित मूल्य की जाँच करना, सीखना हमारे लिये एक अतीव प्रयोजनीय विषय है। अतः हम उन व्यापक नियमों का एक स्थूल दिग्दर्शन प्रस्तुत करना चाहते हैं, जिसके अनुसार कि वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या होनी चाहिये, परन्तु जिन्हें यूरोपियन विद्वान् सर्वथा भुला देते हैं, और जिसके कारण बहुत सा मिथ्यार्थ उत्पन्न हो गया है।

दार्शनिक विषयों के पर्यालोचन में पूर्व कल्पित विचार हमारे घोरतम शत्रु हैं। वे न केवल पक्षपात से मन को ही दूषित करते हैं प्रत्युत साथ ही आत्मा से उस सत्यवादिता और सरल शुचिता को भी छीन लेते हैं जिसके बिना सत्य का धार्मिक अन्वेषण और विवेक होना कठिन है। किसी प्रश्न यथा दर्शन शास्त्र या धर्म-पद्धति के मूल्य का निर्णय करने के लिये अत्यन्त मानसिक गम्भीरता और समदर्शिता का प्रयोजन है, न हीं, यह मान लेना ठीक है कि केवल व्याकरण और भाषा का परिचय हो जाने से ही मनुष्य को किसी धार्मिक या दार्शनिक पद्धति पर एकदम अधिकार प्राप्त हो सकता है। इससे पूर्व कि मनुष्य पुरुष और प्रकृति के गहन और अदृष्ट सत्यों को उपलब्ध कर सके यह आवश्यक है कि पर्याप्त पूर्वाभ्यास द्वारा मन एक उत्कृष्ट मानसिक अवस्था तक उच्च हो चुका हो। वैदिक तत्त्वज्ञान की भी यही अवस्था है। यथोचित वेदार्थ करने का अधिकारी होने के पहले मनुष्य का व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, भूगर्भ विद्या और ज्योतिष X पर पूर्ण अधिकार होना चाहिये, उसे धर्मशास्त्र, तर्क और

+ सत्यार्थप्रकाश, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ २७८।

X वे सुप्रसिद्ध छः वेदांग हैं—१. शिक्षा, २. व्याकरण, ३. निरुक्त, ४. कल्प, ५. छन्द और ६. ज्योतिष।

प्रमाण के सिद्धान्तों, सात्त्विकभावों की विद्या, योगशास्त्र और वेदान्तशास्त्र + में निपुण होना चाहिये, उसे इन सब का और इन से भी कहीं अधिक शास्त्रों का पण्डित होना चाहिये ।

हमारे वैदिक विद्वान् भी ऐसे ही भौतिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र के पारदर्शी पण्डित, पक्षपातशून्य और समदर्शी परीक्षक, और सत्यान्वेषी होने चाहिये । परन्तु यदि निष्पक्षता के स्थान में पक्षपात, विद्या और तत्त्वज्ञान के स्थान में कुविद्या और मिथ्या विश्वास और शुचिता के स्थान में प्रयोजन आ जाय और जब सरलान्वेषण का स्थान पूर्व संकल्प ले ले तो सत्य का या तो रूपान्तर हो जाता है या वह सर्वथा दब जाता है ।

शोपनहार जिसने अपने हृत्पटल से समस्त पूर्व-संस्थापित यहूदी विश्वासों और उस सारे तत्त्वज्ञान को, जो इन मिथ्या विश्वासों के सामने साष्टांग प्रणाम करता है, सर्वथा धो डाला है, उपनिषदों और ब्राइबल के धर्म के विषय में कहता है—

''आर्यावर्त्त में हमारा मत (बाइबल) अब या कभी भी जड़ नहीं पकड़ेगा, मानवजाति के आदिम ज्ञान को बाहर धकेल कर गेलिली की घटनायें कभी उसका स्थान न ले सकेंगी । इसके विपरीत आर्यावर्त्तीय ज्ञान का प्रवाह हरिवर्ष में पुनः बहेगा और हमारे ज्ञान तथा विचार में पूर्ण परिवर्तन उत्पन्न करेगा ।''

आओ, अब हम देखें कि अध्यापक मेक्समूलर इस निष्पक्ष और समदर्शी तत्त्ववेत्ता के वचनों के विरुद्ध क्या कहता है ? वह कहता है : ''यहाँ फिर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि महान् तत्त्ववेत्ता का अल्पज्ञात के प्रति उत्साह उसे बहुत दूर बहा ले गया है । वह उपनिषद् के कृष्णपक्ष को नहीं देखता और बाइबल में विद्यमान सनातन सत्य की प्रदीप्त किरणों पर इच्छापूर्वक अपनी आँखे बन्द कर लेता है । इन किरणों को तो राममोहन राय भी उस ऐतिह्यरूपी मेघ और कुहरे के पीछे जो प्रत्येक मत के सूर्योदय के चारों ओर इतनी शीघ्रता से एकत्र हो जाता है, शीघ्र ही भाँप सका था ।''

मैक्समूलर की ईसाइयत को पाठकों के सम्मुख अधिक स्पष्टता से रखने के उद्देश्य से हम ''प्राचीन संस्कृत साहित्य'' का इतिहास नामक पुस्तक का यह प्रमाण देते हैं :—

पर यदि संसार के राजनैतिक इतिहास में आर्यावर्त का कोई स्थान नहीं, फिर भी मनुष्य जाति के मानसिक इतिहास में इसे अपना स्थान पाने का निश्चय ही अधिकार है । आर्यावर्तीय जाति ने संसार के राजनैतिक युद्ध में जितना कम भाग लिया है और साम्राज्य निर्माण तथा संग्राम के आश्चर्य कर्मों में अपनी

+ ये सुप्रसिद्ध छः उपांग या दर्शन हैं—१. पूर्वमीमांसा, २. वैशेषिक, ३. न्याय, ४. साख्य, ५. योग और ६. वेदान्त ।

शक्तियों को जितना न्यून व्यय किया है उतना ही अधिक अपने आप को उस महान् उद्देश्य की पूर्ति के योग्य बनाया है और इसके लिए अपनी सारी शक्तियों को एकाग्र किया है कि जो इसी के लिए पूर्व के इतिहास में रखा हुआ था। इतिहास यह शिक्षा दे रहा प्रतीत होता है कि ईसाई मत की सचाइयों को स्वीकार करने के पहले सारी मानव-जाति के लिए एक क्रमिक शिक्षा का प्रयोजन था और उच्चतर सच्चाई के प्रकाश को तत्काल ही ग्रहण कर लेने के लिए पहले मानव बुद्धि के सभी हेत्वाभासों का दूर हो जाना आवश्यक था। संसार के पुराने मत प्रकृति का दुग्धमात्र थे, जिसके पीछे कि यथोचित समय पर जीवन की रोटी खानी थी। जब आदिम प्रकृति पूजा, जो आर्य कुटुम्ब के सब सभासदों में सामान्य थी, छली पुरोहितवर्ग के हाथों एक खाली मूर्तिपूजा बन गई, तो समस्त आर्य जातियों में से केवल भारतीयों ही ने धर्म का एक नवीनरूप उत्पन्न किया, जिसे कि प्रकृति की अधिक विषयाश्रित पूजा के मुकाबले में ठीक तौर पर ही आध्यात्मिक पूजा कहा गया है। वह धर्म अर्थात् बौद्धमत आर्य जगत की सीमाओं से कहीं परे तक फैल चुका है और हमारी परिमित दृष्टि को कदाचित ऐसा प्रतीत होता हो, कि इसने मानव जाति के एक बड़े भाग में ईसाईयत के आगमन को रोक दिया है। परन्तु हो सकता है कि उस भगवान् की दृष्टि में जिसके लिए सहस्र वर्ष एक दिन के तुल्य है, उस मत ने भी संसार के सारे पुरातन मतों के सदृश अपनी भूलों द्वारा, प्रभु की सच्चाइयों के लिए मानव हृदय की प्रबल लालसा को सुदृढ़ और परिपक्व करने के लिए ख्रीष्ट का मार्ग तैयार करने में ही सहायता दी हो।''[१]

क्या यह ईसाई पक्षपात नहीं है। यह केवल मेक्समूलर में ही नहीं पाया जाता। मोनियर विलियम्स पर यह बात और भी प्रबल रूप से चरितार्थ होती है। उसने अपनी इण्डियन विज़्डम नामक पुस्तक लिखी ही इस उद्देश्य से है कि वैदिक धर्म का—जिसे वह ''ब्राह्मण धर्म'' कहता है, विकृत स्वांग रचकर उसकी हँसी उड़ायी जाये और गम्भीर मिलानों की श्लाघ्य रीति से ईसाई मत को ऊँचा उठाया जाय। मोनियर विलियम्स लिखता है—''तब आगामी पृष्ठों का एक प्रयोजन ईसाईयत और संसार के तीन प्रधान झूठे धर्मों का, जैसा कि आर्यावर्त में प्रदर्शित होते हैं, मुकाबला करना है।''

मानव-जाति के सगे पिता परमेश्वर ने सर्वभूतों के कल्याणार्थ अलौकिक रीति से दिये हुए ईसाई मत और उसके अधिकारों का वर्णन करते हुए वह कहता है :—

''ईसाई मत की प्रतिज्ञा है कि वह अपने उद्देश्य को सम्पूर्ण मनुष्य के

१. मोनियर विलियम्स की इण्डियन विज़्डम पृ० उपोद्धात ३६।

सम्पूर्ण परिवर्तन और उसकी प्रकृति के सर्वाङ्गिक उद्धार के द्वारा ही पूरा करता है। जिस उपाय से यह उद्धार किया जाता है, उसे परस्पर स्थानान्तर या एक के स्थान में दूसरे के स्थापन की एक ऐसी रीति कह सकते हैं, जिससे एक-दूसरे पर क्रिया करने से परमेश्वर और मनुष्य की प्रकृति के बीच परस्पर परिवर्तन और सहकारिता उत्पन्न हो जाती है। बाइबल कहती है कि मनुष्य परमात्मा की प्रतिमूर्ति बनाया गया था, परन्तु प्रथम प्रतिनिधिस्वरूप मनुष्य और मानव-जाति के जन्मदाता के पतन से उत्पन्न हुए एक दोष के कारण उसका स्वभाव मलिन हो गया। यह दोष एक प्रतिनिधि स्वरूप मृत्यु द्वारा ही दूर हो सकता था।''

अतः द्वितीय प्रतिनिधि मनुष्य अर्थात् ईसा, जिसका स्वभाव दिव्य और निर्दोष था, स्वेच्छा से अपराधी की मौत मरा, ताकि पुरातन मलिन स्वभाव का दोष भी जो उसमें आ गया था, मर जाय। केवल इतना ही नहीं। हमारे धर्म की महान् मध्यवर्ती सच्चाई का आधार इतना ईसा की मृत्यु नहीं, जितना कि उसका शाश्वत जीवन है। प्रथम बात यह है कि वह पुनः जी उठा और सदा जीता रहेगा, ताकि वह मृत्यु के स्थान में, जिसे कि उसने दूर किया है, अपने दिव्य स्वभाव से सहयोग प्रदान करे।''

''तब यही परस्पर परिवर्तन ईसाईयत को अन्य समस्त मतों से अलग करता है। यह दूषित माता-पिता की सन्तान शारीरिक मनुष्य और शारीरिक ईश्वर-कृत-मनुष्य और हमारे दूसरे पिता बननेवाले के बीच का परिवर्तन है। हमें एक गली-सड़ी जड़ से अलग करके एक जीवित पौधे पर पेबन्द किया गया है। हम पहले आदम से परम्परा में आई हुई दूषित इच्छा, भ्रष्ट विवेक और विकृत विचार को छोड़ कर द्वितीय आदम की अमर दिव्य शाखा से, जिसके साथ कि हम श्रद्धा की सरल क्रिया से जुड़े हुए हैं, सुखकर शक्ति अर्थात् तरोताजा इच्छाएँ, बुद्धिमत्ता, साधुता और शान के नवीन स्रोत प्राप्त करते हैं। इस रीति से ईसाईयत का महान् उद्देश्य पूरा होता है। दूसरे मतों के भी सदाचार सम्बन्धी अपने निर्देश और सिद्धान्त हैं। इनको यदि उस अधिकांश से जो कि बुरा और निःसार है, सावधानता के साथ पृथक् कर लिया जाय तो सम्भवतः ये ईसाई मत का मुकाबला कर सकते हैं। परन्तु इन सबके अतिरिक्त ईसाईयत के पास एक ऐसी वस्तु है, जो अन्य मतों के पास बिलकुल नहीं—अर्थात् उसके पास एक व्यक्तिगत परमेश्वर, जो उस प्रसाद या पुनरुद्धारक भाव का दान देने के लिए सदा जीवित है, जिसके द्वारा मानव प्रकृति का पुनर्जन्म होता है और वह दुबारा ईश्वर सदृश बनाई जाती है, और जिसके द्वारा मनुष्य एकबार फिर ''शुद्ध हृदय'' होकर अपनी इच्छा, आत्म-

प्रतीति और व्यक्तित्व को साथ रखता हुआ भी परमपिता परमात्मा के समीप जाने और सदा उसके साथ निवास करने के योग्य बन जाता है ।''[१]

पुनः ''ब्राह्मण धर्म'' का वर्णन करते हुए वह कहता है—

''ब्राह्मण धर्म'' के साथ न्याय करते हुए हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसकी अधिक पूर्णतया विकसित पद्धति के अनुसार ईश्वर का मिलाप साक्षात् शारीरिक परमेश्वर में श्रद्धा से, और साथ ही कर्म और ज्ञान से प्राप्त होता है । और यहाँ ब्राह्मण धर्म के विचार की कुछेक रेखाएँ ईसाईयत की रेखाओं को काटती हुई प्रतीत होती हैं । परन्तु विविध हिन्दू देवताओं का स्पष्ट व्यक्तित्व अधिक सूक्ष्म परीक्षा पर पिघल कर एक अस्पष्ट आध्यात्मिक तत्त्व बन जाता है । यह सत्य है कि परमात्मा मनुष्य बनता है, और मनुष्यों के हितार्थ मध्यस्थ का काम करता है, जिससे मानव और दिव्य का संयोगाभास और स्रष्टा तथा उसके स्पष्ट भूतों के बीच क्रिया प्रत्युत प्रेममयी सहानुभूति की साक्षात् अदला बदली पैदा होती है । परन्तु जब परमात्मा की सारी अभिव्यक्तियाँ, क्या देवता और क्या मनुष्य, अन्ततः अनन्त के एकत्व में लीन हो जाती हैं और परमेश्वर से स्थायी रूप से अलग कोई वस्तु पृथक् नहीं रह जाती तो क्या मानव और दिव्य शक्तियों में कोई वास्तविक प्रतिक्रियागत सहकारिता हो सकती है ? यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि कृष्ण (विष्णु) के सम्बन्ध में जो भगवान् का एक कल्पित रूप है, अत्यन्त अपूर्व भाषा प्रयुक्त की गई है, (देखो पृष्ठ १४४-१४८ और पृष्ठ ४५६-४५७ भी देखो) ।

परन्तु यदि इसे एक परमेश्वर से अभिन्न माना जाय तो वह हिन्दू सिद्धान्त के अनुसार, केवल इन्हीं अर्थों में जीवन का स्रोत हो सकता है कि यह जीवन को बाहर निकालता है और फिर उसे अपने ही भीतर सोख लेता है । यदि इसके विपरीत, उसे परब्रह्म का केवल मानवरूप में प्रादुर्भाव या अवतार समझा जाय तो ब्राह्मण धर्म के एक प्रधान सिद्धान्त के अनुसार इसका जीवन की एक प्रणाली बनना तो दूर रहा, उसका अपना जीवन एक ऐसे उच्च स्रोत से निकलना चाहिये जिसमें कि वह अन्त को फिर लीन हो जाय । फिर दिव्यता का अधिकारी वह तब ही हो सकता है जब इसमें परमात्मा से भिन्न, क्षुद्र जन्तुओं की अपेक्षा कम व्यक्तित्व हो ।[२]

और अन्त में उपसंहार में वह कहता है :—''ऐसी अशान्तिजनक पद्धतियों से, चाहे उनमें यत्र तत्र उच्च और युक्तिपूर्ण विचार भी मिलते हैं, हरिवर्षीय जातियों के सजीव पुष्टकारक ईसाई धर्म की ओर मुड़ना बड़ा ही सुखद प्रतीत होता है, चाहे वह धर्म अपने वास्तविक आदर्श से कितना ही

१. मोनियर विलियम्स का भारतीय ज्ञान, उपोद्धात पृष्ठ ४२-५१ ।
२. तदेव उपोद्धात पृ० ४४-४५ तदेव उपोद्धात पृष्ठ ४५ ।

गिर गया हो और चाहे यह अपने नाम मात्र अनुयायियों के जिनके पास इसका नाम और रूप ही है पर इस की शक्ति नहीं, दोषों और त्रुटियों से कितना ही अपमानित क्यों न हो गया हो।''

'उपसंहार में मैं एक और बात बताता हूँ जो स्वयं हमारे धर्म को सारी मानव-जाति की आवश्यकताओं के अनुकूल एक मात्र पद्धति, मोक्ष का एक मात्र सन्देश प्रमाणित करती है जिसके विषय में परमेश्वर की इच्छा है कि उसे सभी बुद्धिमान मनुष्य शनैः शनै ग्रहण कर लें।''

तब यह स्पष्ट है कि प्रोफेसर मोनियर विलियम्स घोर ईसाई पक्षपात में फँसा हुआ है। वह किसी प्रकार भी वेदों को एक निष्पक्ष समदर्शी विद्यार्थी के समान नहीं समझा जा सकता। तब आश्चर्य ही क्या है यदि वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या के नियमों को पूर्ण अनभिज्ञता और ईसाई मूढ़ विश्वास के पक्षपात के बल पर आधुनिक आभासभूत भाषा-विज्ञान, वैदिक तत्त्वज्ञान के विरुद्ध सिर उठाए और अपने लिये यूरोपियन ईसाई जातियो में, अथवा भारत के कुछ बहके हुए शिक्षितों में, जो संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य को बिलकुल न जानने का भारी गुण रखते हैं, श्रोतागण प्राप्त करे—

पर अब हम विषय की ओर आते हैं। वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या के लिये पहला नियम, जिसे निरुक्त के रचयिता यास्क ने स्थिर किया है, यह है कि समस्त वैदिक संज्ञायें यौगिक+ हैं। निरुक्त के प्रथमाध्याय का चतुर्थ खण्ड इसी विषय के विवाद से प्रारम्भ होता है। यास्क, गार्ग्य, शाकटायन और दूसरे वैयाकरण एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि वैदिक संज्ञायें सब यौगिक हैं। परन्तु यास्क और शाकटायन यह भी प्रतिपादन करते हैं कि रूढ़ि @ संज्ञाएँ भी यौगिक हैं अर्थात् मूलतः धातुओं से रची गई थीं। पर गार्ग्य प्रतिपादन करता है कि केवल रूढ़ि संज्ञायें यौगिक नहीं है। वह खण्ड गार्ग्य की सम्मतियों के खण्डन के साथ समाप्त होता है। और इसे सत्य स्थिर किया गया है कि सारी संज्ञाएँ वैदिक हों या रूढ़ि—यौगिक हैं। निरुक्त के इसी प्रमाण पर पतंजलि अपने महाभाष्य में यही सम्मति प्रकट करता है, और वैदिक संज्ञाओं को रूढ़ि संज्ञाओं से नैगम नाम द्वारा पृथक् करता है।

+ यौगिक शब्द वह है जो धातुनिष्पन्न अर्थ रखता है अर्थात् जो केवल अपने धात्वर्थ अनुबन्धों के प्रभाव से हुए विकारों के साथ अपने अर्थ को जानता है। वस्तुतः रचना सम्बन्धी अंग, कि जिनमें से शब्द संयुक्त किया जाता है, शब्द के सत्यार्थ के लिये सारा और केवल पता दे देते हैं। शब्द शुद्ध रूप में गर्भितार्थ है।

@ रूढ़ि शब्द किसी नियत संहत पदार्थ का नाम होता है, वहाँ रचना से (निश्चित) शब्द का गर्भितार्थ शब्द से निर्दिष्ट पदार्थ के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं देता। अतः साधारणतया इसका अर्थ मनघड़न्त अर्थ वाला शब्द है।

पतंजलि कहता है—

''नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्''

और इससे एक पंक्ति पूर्व—

''नैगम रूढ़िभर्वं हि सुसाधु'' X

इस सारे का अभिप्राय यह है कि सब ऋषि और मुनि पुरातन ग्रन्थकार और भाष्यकार, बिना किसी अपवाद के, वैदिक शब्दों को यौगिक मानते हैं, तथापि लौकिक शब्दों को कुछेक ने रूढ़ि भी माना है।

इस नियम को हरिवर्षीय विद्वानों ने सर्वथा भुलाया है और इसी कारण उन्होंने अपने वेदों के व्याख्यानों को पुराणों की घड़न्त या मांगी हुई कथाओं से और ऐतिहासिक व्यक्तियों के और उपाख्यानों से परिपूरित कर दिया है। इसीलिये डाक्टर मूर+ के अनुसार निम्नलिखित ऐतिहासिक व्यक्तियों का ऋग्वेद में वर्णन है, कण्व ऋषि १,४७,२ में गौतम १,६१,१६ में और गृत्समद ऋषि २,३९,८ में भृगव ऋषि ४,१६,२० में और बृहदुक्थ ऋषि १०,४५,६ में। परन्तु सत्य क्या है ? कण्व और गृत्स शब्द केवल साधारण रूप में मेधावि पुरुष वाची है (देखो निघण्टु ३,१६) भृगवः शब्द केवल प्रज्ञावान् पुरुषों का वाची है (देखो निघण्टु ५.X) गौतम शब्द स्तोता वाची है और बृहदुक्थ वह है जिसको उक्थ या वस्तुओं के नैसर्गिक गुणों का बृहत् या पूर्ण ज्ञान है। तब यह स्पष्ट है कि इस नियम को एक बार भी भुला देने से पाठक का ऐतिहासिक या पूर्वऐतिहासिक व्यक्तियों की कथाओं में जा पड़ना बहुत आसान है। यही मेक्समूलर के सम्बन्ध में कहा जा सकता है जिस ने कि ऋग्वेद में शुनः शेप की आख्यायिका का आविष्कार किया है। शेप जिसका अर्थ स्पर्श है (निरुक्त ३,२ शेप शपते स्पृशते कर्मणो) ज्ञानार्थ वाले शुनः या श्वन् शब्द से (श्वा श्वसतेः शक्तेर्वा गतिकर्मणः स्यात्) अनुबन्धित होने पर ऐसे पुरुष का अर्थ देता है कि जो ज्ञान के स्पर्श में आया है अर्थात् एक विद्वान् पुरुष। इस लेख में आगे चलकर यह ज्ञात हो जायगा कि निरुक्त के केवल इसी नियम के उल्लंघन से किस प्रकार एक मन्त्र के पश्चात् दूसरे मंत्र की अशुद्ध व्याख्या हुई है।

एक निष्पक्ष मनुष्य को इस नियम की सत्यता में कभी सन्देह न होगा कि क्योंकि निरुक्त के प्रमाण को छोड़कर भी, वेदों का पुरातनत्व ही इसके शब्दों के यौगिक होने का स्पष्ट प्रमाण है। प्रोफेसर मैक्समूलर भी, अपनी मिथ्याकथाविषयक वृत्तियों में, कम से कम वेदों के विशेष भागों के सम्बन्ध में

X महाभाष्य, अध्याय ३, पा० ३, सू०१।

+ मूर की संस्कृत टैक्सट्स'' भाग ३, पृ० २३२-२३४

X यहाँ पद का गत्यर्थ होने से ज्ञानार्थ प्राप्त है। अनुवादक।

यह मानने के लिये बाधित हुआ है कि उनके शब्द यौगिक हैं । वह कहता है—परन्तु इन प्राथमिक स्वरों में एक चारुता है जो किसी अन्य प्रकार की कविता में नहीं पाई जाती । प्रत्येक शब्द अपने मौलिक अर्थों का कुछ न कुछ अंश अपने में रखता है, प्रत्येक विशेषण प्रभाव डालता है, प्रत्येक विचार, अति विषम और गहन शब्द रचना के होते हुए भी यदि हम इसे एक बार सुलझा दें, सत्य, शुद्ध और पूर्ण है + ।

आगे चलकर मैक्समूलर फिर कहता है—"वेद में ऐसे नाम मिलते हैं" मानो ये अभी, तरलावस्था में है । वे कभी संज्ञा के रूप में प्रतीत नहीं होते और न ही व्यक्ति विशेष ही के नामों के रूप में वे सेन्द्रियिक हैं जो कि अभी तोड़े या साफ नहीं किए गए :—++

क्या इससे कुछ अधिक स्पष्ट हो सकता है ? वेदों में आने वाले शब्द यौगिक हैं क्योंकि वे कभी न ही अभिधान रूप में और न ही व्यक्ति विशेषणों के नाम के रूप में प्रकट नहीं होते और क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने मौलिक अर्थों का कुछ न कुछ अंश अपने में रखता है ।" यह जानकर आश्चर्य होता है कि स्वयं वही मैक्समूलर, जिसने वेदों के कुछ मंत्रों में शब्दों के यौगिक स्वरूप को माना है, वेदों के अन्य भागों में उसी विशेष को अस्वीकार कर देता है । यह कहने के पश्चात् कि वेदों के इन प्राथमिक स्वरों में शब्द यौगिक है, वह आगे कहता है "परन्तु वेद की सारी कविताओं की यह अवस्था नहीं है । जिसे मैं मन्त्रकाल अर्थात् मध्यम समय की कविता समझता हूँ, उसके अनेक नमूनों का अनुवाद करना पहाड़ के समान भारी काम है । ये गीत प्रायः यज्ञकर्मों के लिये अभिप्रेत हैं, वे पारिभाषिक शब्दों से भरे पड़े हैं उनके शब्द चित्र बहुत बार अधिक उज्ज्वल पर सदा कम स्पष्ट हैं और कई विचार और उदाहरण स्पष्ट ही पूर्वतर सूक्तों से लिए गए हैं । X

इसे वह मंत्र काल कहता है । प्राथमिक स्वरों का सम्बन्ध उससे है जिसे कि छन्द काल कहते हैं । मन्त्रकाल से भिन्न उपर्युक्त छन्दकाल की विशेषताएँ वह इस प्रकार वर्णन करता है—'उनकी शिक्षा में कोई अधिक गम्भीर पाण्डित्य नहीं, उनके नियम सरल है, उनकी कविता कल्पना की कोई बहुत ऊँची उड़ानों को नहीं दिखाती और उनका मत कतिपय शब्दों में कहा जा सकता है । परन्तु उनकी भाषा, कविता और मत का जो कुछ भी है, वह ऐसी चारुता रखता है कि उसके समान भारतीय साहित्य का कोई भी अन्य काल नहीं रखता, वह स्वयं सिद्ध मौलिक और सत्य है ।"

+ मैक्समूलर कृत—प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५५३ ।

++ तदेव पृ० ७५५ ॥

X मैक्समूलर कृत—प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५५८।

प्रोफेसर मैक्समूलर छन्द-काल के उदाहरण के तौर पर ऋग्वेद ७,७७ को उद्धृत करता है। वह कहता है—"यह सूक्त जो उषा को सम्बोधित करता है, वेद की आदिम सरल कविता का निर्बल उदाहरण है। यह किसी यज्ञ विशेष को नहीं जानता, इसमें पारिभाषिक शब्द नहीं, और सूक्त, शब्द का जो अर्थ हम समझते हैं उस अर्थ में यह सूक्त नहीं कहा जा सकता। यह एक गीत-मात्र है, जो बिना किसी आयास के, बिना किसी क्लिष्ट विचार या उज्ज्वल कल्पना के प्रपञ्च के, एक ऐसे मनुष्य के भावों को प्रकट करता है जिसने संमिश्रण हर्ष और भय के साथ उषा को आते देखा है, और जिसके मन में अपने अनुभव को परिमित भाषा में वर्णन करने की प्रेरणा हुई है।"[१]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो गया है कि प्रोफेसर मैक्समूलर वेदों के भिन्न-भिन्न भागों को भिन्न-भिन्न कालों के मानता है। कुछ और पूर्वतर भाग है, मैक्समूलर की अतीव शुद्ध गणनाओं के अनुसार, जिनकी सत्यता और अभ्रान्ति की गोल्डस्टकर विस्तृत साक्षी प्रस्तुत करता है। जिन्हें वह छन्द काल के कहता है। लौकिक संस्कृत में छन्द शब्द का अर्थ स्वेच्छा है। अतः वह छन्दकाल उसे समझता है कि जिस काल के सूक्त कि केवल साधारण बातों की शिक्षा देते हैं, वे कल्पना की उड़ान से मुक्त हैं और सरल (मूर्ख) मन के स्वच्छन्द उद्गार हैं। मन्त्रकाल (२९०० वर्ष पुराना) पारिभाषिक शब्दों और बहुश्रमसाधित कृत्यों के निरूपणों से भरा हुआ है। अब हम पूछते हैं कि मैक्समूलर ने वेदों के भिन्न-भिन्न भागों को भिन्न-भिन्न कालों के सिद्ध करने के लिये क्या प्रमाण दिया है ? उसके प्रमाण केवल दो हैं। प्रथम, छन्दों और मन्त्रों के बीच भिन्नता का कुचिंतित और अस्पष्ट भाव और दूसरे दोनों भागों द्वारा प्रदर्शित विचार के भिन्न-भिन्न रूप। हम इन दोनों हेतुओं पर विस्तार से विचार करेंगे।

यास्क कहता है :—

मन्त्रः मननात् छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनात्।
यजुर्यजतेः सामसंमितमृचा ॥ निरुक्त ७।१२॥

जिसका अर्थ है कि मन्त्र और छन्द के अर्थ में कोई भेद नहीं। वेद, मन्त्र कहलाता है क्योंकि इसके द्वारा पुरुष सारे अस्तित्वों के यथार्थ ज्ञान को सीखता है। वेद, छन्द भी कहलाता है क्योंकि वह सारी अविद्या को निवारण करता है और पुरुष को सत्यज्ञान और सुख की शरण में लाता है अथवा इससे भी स्पष्ट शतपथ ८,२ में लिखा है।

छन्दांसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्।

मन्त्र (देव) छन्द कहलाते हैं क्योंकि समस्त मानव आचार का ज्ञान उनके

१. प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५५२।

साथ सम्बद्ध है। उन्हीं के द्वारा हम सारा सदाचार सीखते हैं। शब्दों का यौगिक अर्थ भी इसी परिणाम पर ले जायगा। मन्त्र मन "ज्ञाने" धातु से सिद्ध किया जा सकता है अथवा "मत्रि गुप्त परिभाषणे" से। पाणिनि छन्द शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करता है। चन्दे-रादेश्चछः ॥ X छन्द, चदि "आल्हादनेदीप्तौ" से निकाला गया है। छन्द वह है जिसका ज्ञान कि सारे आह्लाद को उत्पन्न करता है या जो प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करता है, अर्थात् इसका सत्य स्वरूप प्रकट करता है।

मैक्समूलर का वेदों के भिन्न भिन्न भागों को भिन्न भिन्न कालों का मानने का दूसरा हेतु यह है कि वेदों में विचार के दो भिन्न-भिन्न रूप पाये जाते हैं। एक तो विचार का सत्य सरल रूप है और उसके छन्द काल से मिलता जुलता है। दूसरा विचार का बहुश्रम साधित और पारिभाषिक रूप है, जो उसके मंत्र काल से मिलता जुलता है। परन्तु मैक्समूलर के पास यह दिखाने का क्या प्रमाण है कि उसके मध्यम काल के सूक्त बहुश्रम साधित और पारिभाषिक विचारों से भरे हुए हैं ? इस का स्पष्ट प्रमाण इसके सिवा और कुछ नहीं कि वह उनकी वैसी व्याख्या करता है। यदि उसकी व्याख्याएँ अशुद्ध सिद्ध कर दी जायें तो उसका दो कालों का भेद भी खड़ा न रह सकेगा। अब, वह मंत्र काल के सूक्तों की क्यों ऐसी व्याख्या करता है ? स्पष्ट है, क्योंकि वह सायण और महीधर के प्रमाण से इन मंत्रों के शब्दों को परिभाषाओं, यज्ञों और कृत्रिम पदार्थों और कृत्यों को जताने वाला समझता है अथवा दूसरे हैं। तब यह स्पष्ट है कि यदि मैक्समूलर ने निरुक्त में दी हुई, व्याख्या शब्दों में वह इन शब्दों को उनके यौगिक नहीं प्रत्युत रूढ़ि अर्थ में लेता है। तब यह स्पष्ट है कि यदि मैक्समूलर ने निरुक्त में दी हुई व्याख्या की व्यवस्था की कि सारे वैदिक शब्द यौगिक हैं दृष्टि में रखा होता तो वह वेदों के भिन्न-भिन्न भागों को भिन्न-भिन्न कालों के मानने के भ्रमजनक काल विरोध में न पड़ता।

परन्तु एक और पक्षपात है जिसे कि अनेक विद्वान् केवल इसी संस्कार के कारण पुष्ट करते हैं कि वह एक सुस्वीकृत वैज्ञानिक सिद्धान्त है। वह यह है कि सभ्यता की प्राथमिक व्यवस्थाओं में, जबकि प्राकृतिक नियमों का ज्ञान कम होता है और उनकी समझ बहुत ही कम होती है, जब मनुष्यों को संसार का पर्याप्त अनुभव नहीं होता, तो शुद्ध तर्क की सूक्ष्म रीतियों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। दूसरी ओर मनुष्य के मानसिक व्यापारों के सम्पादन में उपमा बड़े महत्त्व का काम करती है।

थोड़ा सा भी सादृश्य अथवा सादृश्य का आभास ही उपमा के प्रयोग के प्रतिपादनार्थ पर्याप्त होता है। मानवीय अनुभव के असभ्य प्रारम्भों के ऐसे काल

X उणादि कोश ४,२१९।

में स्थूलतम प्राकृतिक शक्तियाँ मानव मन को, प्रधानतः गतियों द्वारा प्रभावित करती हैं। वायु चलती हुई, अग्नि जलती हुई, पत्थर या फल गिरता हुआ, इन्द्रियों को सारतः जंगमवत् प्रभावित करता है। अब, शारारिक बल के चेतन व्यवसाय के सारे क्षेत्र में, इच्छा क्रिया से पूर्व होती है, और क्योंकि जगत् में एक असभ्य का अतिविषमानुभव भी इस ज्ञान को ग्रहण करता है, अतः ऐसा तर्क करना बुद्धि से अत्युक्ति का काम लेना नहीं, कि यह प्राकृतिक शक्तियाँ जिनसे इन्द्रियगोचर क्रियायें होती हैं, इच्छा शक्ति सम्पन्न हैं। प्राकृतिक शक्तियों में जब इस प्रकार चेतनत्वारोप हो जाता है तो फिर उन को देवता बनते कुछ देर नहीं लगती। वह प्रबल प्रताप, अप्रतिहत सामर्थ्य और प्रायः महावेग, जिससे कि एक असभ्य को ये शक्तियाँ काम करती दिखाई देती हैं, उसके अन्दर भय, त्रास, और पूजा का भाव उत्पन्न कर देती हैं। अपनी निर्बलता, दीनता और हीनता का भाव इस असभ्य मन को शनैः शनैः आ घेरता है, और बुद्धि द्वारा आरोपित चेतनत्व अब चित्तावेग से देवत्व को प्राप्त हो जाता है। इस मतानुसार, वेद जो निःसन्देह आदिम काल की पुस्तकें हैं, ऐसे ही भाव-विशिष्ट पुरुषों की प्रार्थनाएँ हैं। यह प्रार्थनाएँ प्राकृत शक्तियों की हैं जिनमें कि आँधी और वर्षा भी सम्मिलित है। इन प्रार्थनाओं से असभ्य लोगों के बदला लेने तथा पूजा का परिचय मिलता है।

अतः इन विद्वानों को वह मानना बहुत भाता है कि वेद जो निस्सन्देह आदिम समयों की पुस्तकें हैं, पुरातन आर्यों का पौराणिक ज्ञान है।

और जब कि मैक्समूलर की स्वीकृतियों के अनुसार भी तत्त्वज्ञान की उच्चतर सच्चाइयाँ और एकेश्वरवाद वेदों में इधर-उधर मिल जाते हैं तो फिर वेदों के मुख्य भाग की मिथ्या कथा विषयक व्याख्या का उनके दार्शनिक भागों के साथ मेल करना कठिन हो जाता है। मैक्समूलर कहता है, मैं केवल एक और सूक्त देता हूँ (ऋग्वेद १०, १२१) जिसमें एकेश्वरवाद इस बल और निश्चय के साथ प्रकट किया गया है कि हमें आर्य जातियों में स्वाभाविक एकेश्वरवाद न मानने के पहले कुछ संकोच होता है।* अतः कई लोग ऐसी युक्ति देते हैं कि मिथ्या कथा विषयक भाग दार्शनिक भागों के पहले के हैं, क्योंकि जैसा अभी दर्शाया गया, प्राथमिक विश्वास सदा मिथ्या कथा विषयक होता है।

इस कल्पना का मूल भ्रम यह है कि यह एक अनिश्चित परिणाम को आवश्यक परिणाम मानता है, क्योंकि मिथ्या कथा ज्ञान चाहे असभ्य बुद्धि और आनुषंगिक तर्क का ही फल हो पर यह अवश्यमेव सदा ऐसा नहीं होता। यह तो पवित्रतर सत्यतर धर्म के पतित, कुरूप और पाषाणभूत अवशेष के समान

* मैक्समूलर कृत—प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २६८

भी उत्पन्न हो सकता है । धार्मिक रीतियों का इतिहास, जो पहले तो विशेष वास्तविक प्रयोजनों की पूर्ति के लिये बनाई गई थी, और जो काल क्रम से उन प्रयोजनों के न रहने पर बिगड़ कर अनुष्ठान और व्यवहारमात्र रह गईं, उपर्युक्त वचनों की सत्यता का विपुल प्रमाण है । यदि हरिवर्षीय विद्वानों ने सायण और महीधर के देवमाला सम्बन्धी भाष्यों या वेदों के पीछे के प्रत्युत वेद विरुद्ध काल के पौराणिक साहित्य को कभी न देखा होता तो उनके लिए केवल सापेक्ष मिथ्या-कथा ज्ञान या संस्कृत भाषा-विज्ञान के सहारे वेदों की ऐसी व्याख्याएँ करना, जैसी की सम्प्रति उनमें प्रचलित है, असम्भव होता । क्या यह नहीं है कि पुराणों के नवीन होने के कारण उनकी सारी मिथ्या कथा ज्ञान सम्बन्धी कल्पना उस समय खड़ी की गई थी, जब कि सत्य वैदिक तत्त्वज्ञान की जीवनी शक्ति, अबोध पण्डितमानिगों की दृष्टि में अपने शब्दों से निकल चुकी थी । निःसंदेह जब मनुष्य विचारता है कि उपनिषदें एक ऐसे उच्च दार्शनिक एकेश्वरवाद, जिसकी कल्पना प्रकृति की एकरूपता में पूर्ण विश्वास होने के पश्चात् ही की जा सकती है—और कि वे सारी और दर्शनशास्त्र, पुराणों से पूर्ववर्ती है, जब मनुष्य इन सब पर विचार करता है तो वह इस परिणाम पर पहुँचने से नहीं रुक सकता, कि कम से कम आर्यावर्त्त में तो देवमाला, वेदों के पुरातन दार्शनिक सजीव धर्म के सड़े गले अवशेष के रूप में उत्पन्न हुई थी । जब मनुष्यों की अज्ञानता से वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ भूल गये, और उनके स्थान में व्यक्ति विशेषों के नाम समझे जाने लगे, तो एक दूषित देवमाला उत्पन्न हुई जो आधुनिक मूर्तिपूजक आर्यावर्त्त के लिये शाप स्वरूप है । देवमाला, पुरातन शब्दों के प्राथमिक अर्थों के जीर्ण हो जाने पर उत्पन्न हो सकती है, यह बात जिस प्रक्रिया को मोक्षमूलर देश भाषा की बृद्धि और ह्रास या धर्म का भाषा सम्बन्धी जीवन कहता है उस रीति के द्वारा सच्चाई के लिये बिगड़ कर देवमाला बन जाने का कथन करते हुए यह आप भी स्वीकार करता है । वह कहता है ।

''यह सब कोई मानता है कि प्राचीन भाषा में पर्याप्त शब्दों की विशेष रूप से प्रचुरता है, या अधिक यथार्थ रीति से कहें तो उनमें एक ही पदार्थ अनेक नामों से पुकारा जाता है—वह वस्तुतः बहुनामवाची है । आधुनिक भाषाओं में बहुत से पदार्थ केवल एक ही नाम रखते हैं परन्तु पुरातन संस्कृत, पुरातन यूनानी और अरबी में हम एक ही पदार्थ के लिए शब्दों का एक बहुत बड़ा विकल्प पाते हैं । यह पूर्णतया नैसर्गिक है । जिस किसी को नाम देना होता है, उसका एक पक्ष ही प्रत्येक नाम प्रकाशित कर सकता था, और एक आंशिक नाम से सन्तुष्ट न होते हुए भाषा के पहले निर्माता, एक के पश्चात् दूसरा नाम घड़ते गए और कुछ कालान्तर उन्होंने वे नाम रख लिए, जो विशेष

नामों के लिए अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होते थे। इस प्रकार आकाश को हम केवल उज्ज्वल ही नहीं प्रत्युत नीला, आच्छादक, गर्जक और वर्षादाता भी कह सकते हैं। यह भाषा की बहुनामिकता है और इसे ही हम धर्म में बहुदेववाद कहने के अभ्यासी हैं।*

इन तथ्यों की उपस्थिति में भी यूरोपियन विद्वान् अपने पूर्व कल्पित विचारों को छोड़ने में हिचकिचाते हैं। इसी प्रभाव के उदाहरण स्वरूप फ्रेडिक पिंकनट मुझे इंग्लैण्ड से लिखता है।

"तुम्हारा यह कथन सत्य है कि जिन भाष्यकारों की अब इतनी प्रशंसा की जाती है उनके पास वैदिक संज्ञाओं को जानने के उपाय पहले तो थे ही नहीं फिर यदि थे भी तो वे हमारे वर्त्तमान उपायों से किसी प्रकार भी अच्छे न थे। निश्चय ही तुम्हारा पुराणों को अत्यन्त नवीन रचनायें कहना सत्य है परन्तु ऐसे नूतन ग्रन्थों से भारत के मिथ्याकथाज्ञान सम्बन्धी विचारों को निकालना तुम्हारी भूल है। स्वयं ऋग्वेद में ही, जो निसन्देह भारत के सब ग्रन्थों में प्राचीनतम है, मिथ्या-कथाज्ञान सम्बन्धी सामग्री का बाहुल्य है।" क्या "निश्चय ही तुम्हारा कहना सत्य है" वेदों के मिथ्या-कथा की प्रचुरता का कोई प्रमाण है? परन्तु आगे चलकर वह कहता है, "उस बड़ी चोट के पश्चात् जो बौद्धधर्म के प्रचार ने भारतीय विश्वास के पुरातन रूप पर लगाई, ब्राह्मणों ने अपने विश्वास को दर्शनों में गम्भीर दार्शनिक बनाना आरम्भ किया। निस्सन्देह, उपनिषदों में प्रत्युत संहिताओं में भी बहुत स्पष्ट दार्शनिक विमर्श पाये जाते हैं, परन्तु धर्म की वास्तविकता दार्शनिक आधार पर दर्शनों ही के समय रखा गया था।"

ऊपर के उद्धरणों से बढ़कर दूसरी जाति के इतिहास के प्रति अनादर का भाव और कहीं देख नहीं पड़ता। मनुष्य उस रीति को देखकर वस्तुतः विस्मित रह जाता है जिससे कि हरिवर्षीय विद्वान् भारतीय कालक्रम विवरण पर अविश्वास करते हैं और अपने कल्पित अनुमानों और वितर्कों को संसार के सामने सत्य घटनाओं के अखण्ड ऐतिहासिक कथन के रूप में पेश करते हैं। कौन ऐसा मनुष्य है जिसने पक्षपात से रहित होकर दर्शनों का अध्ययन किया हो और फिर जिस को यह ज्ञात न हो कि आर्यावर्त्त में बौद्धमत के पहले शब्द के बोले जाने के शताब्दियों पहले भी यहाँ दर्शन विद्यमान थे। बौद्धमत अविद्या के अन्धकार में ऐसे समय उत्पन्न हुआ जब कि जैमिनी, व्यास और पतञ्जलि गुजर गये थे, और जब गौतम, कणाद और कपिल विस्मृति की तहों के नीचे दब चुके थे। महाशंकर भी जिसने कि बौद्ध या जैन मत के विरुद्ध विक्रान्त युद्ध किया, अनुमानतः २२०० वर्ष पूर्व हुआ था। अब शंकर ने व्याससूत्रों का भाष्य किया है, और गौड़पाद और दूसरे आचार्य जिन्होंने इन्हीं सूत्रों के

* मैक्समुलर कृत "लेक्चर्स आन दी साइन्स आफ रिलीजन" पृ० २७६-२७७।

भाष्य किये हैं, उनके पूर्ववर्त्ती थे । व्यास की अनेक पीढ़ियों पश्चात् शंकर का जन्म हुआ था । फिर भारतीय इतिहास में महाभारत के समान और दूसरी घटना निश्चित नहीं । यह घटना लगभग ४,८०० वर्ष पूर्व हुई थी । अतएव ये दर्शन कम से कम ४,८०० वर्ष पूर्व विद्यमान थे । इन तथ्यों को मानने के विरुद्ध यूरोपियन विद्वानों को एक प्रबल आपत्ति है और वह आपत्ति बाईबल है । क्योंकि यदि यह तिथियाँ सत्य हों तो बाईबल में जो उत्पत्ति का वर्णन है, उसका क्या बनेगा ? इसके अतिरिक्त यह भी प्रतीत होता है कि यूरोपियन विद्वान् यह अवधारण करने में सर्वतः अशक्त हैं कि अतीतकाल में कोई पक्षपातरहित साहित्य हो सकता था । उनके लिए यह समझना आसान है कि राजनैतिक या धार्मिक उत्क्रान्तियाँ या विवाद आवश्यकता के कारण नये साहित्य को उत्पन्न कर देते हैं । इसीलिए मिस्टर पिंकनट के यह समाधान हैं :—

"पुराने ब्राह्मण अन्धविश्वासी थे और वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने को मताभिमान के कारण मानते थे । जब बौद्धमत जंगल की अग्नि के समान फैला तो उन्होंने स्वधर्म को बलवती युक्तियों द्वारा रक्षित रखना विचारा और इसी कारण दर्शन-साहित्य उत्पन्न किया ।"

यह कल्पना विजातीय घटनाओं को इस मनोरम्यता के साथ मिलाती है कि इसके ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य होते हुए भी यह अपनी पटु समाधान शक्ति के लिए विश्वसनीय बन जाती है ।

अब हम अपने विषय की ओर आते हैं । यास्क वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या के लिए एक नियम स्थिर करता है । अर्थात् वैदिक संज्ञाएँ यौगिक है । महाभाष्य इसे ही दुहराता है । हमने देखा है कि वेदों की व्याख्याओं में यूरोपियन विद्वानों ने इस नियम को कैसे भुला दिया है, जिससे उनके किए वेदों के अनुवादों में बड़ी अशुद्धियाँ हुई हैं । हमने यह भी देखा है उसी भूल में पड़कर डाक्टर मूर ने कैसे सामान्य संज्ञाओं का भाष्य व्यक्ति विशेषणों के नामों के समान किया है, और मैक्समूलर कैसे उसी भूल के कारण वेदों को दो भागों छन्दों और मन्त्रों—में बाँटता है । हमने यह भी देखा है कि किस प्रकार इसी नियम के अज्ञान से मन्त्र पर मन्त्र की व्याख्या देवमाला सम्बन्धी की गई है और कुछ थोड़े से मंत्रों की ही दार्शनिक व्याख्या हो सकी है, इससे तत्त्वज्ञान के साथ देवमाला के मेल का प्रश्न उत्पन्न होता है । इस प्रतिज्ञा की महत्ता को दर्शाने के लिए कि समस्त वैदिक संज्ञाएँ यौगिक हैं, मैं यहाँ ऋग्वेद के ५०वें सूक्त के चौथे मंत्र का सत्यार्थ उस पर आपने भाष्य सहित देता हूँ और तुलना के लिए साथ ही उसी का मोनियर विलियम्स का अर्थ भी देता हूँ । सूर्य, यौगिक शब्द के तौर पर सूरज और परमेश्वर दोनों अर्थ रखता है । मोनियर विलियम्स

इसे केवल सूरज का जतानेवाला ही समझता है । दूसरी संज्ञाएँ व्याख्या के अनुक्रम में स्पष्ट हो जायेंगी । मन्त्र यह है :—

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
विश्वमा भासि रोचनम् ।। प्रथम मण्डल ।

इसका विषय सौर और वैद्युत जगत् के समुज्ज्वल चमत्कार है । यहाँ इस मंत्र में एक महान् प्रश्न प्रतिपादन किया गया है । कौन है जो वस्तुओं और दृश्यों की प्रचुरता से चकित नहीं होता ? कौन है जो हमारे अपने ही ग्रह पर रहने वाली अनन्त भिन्न-भिन्न वस्तुओं के ध्यान में विचार को ही नहीं खो बैठता ? अभी तक तो वनस्पतियों के ही भेद नहीं गिने गए । खनिज मिश्रणों की विस्तृत संख्या के साथ-साथ पशु और वनस्पति जातियों की संख्या सत्य ही असंख्य कही जा सकती हैं । परन्तु हम अपने आपको केवल इस भूमि तक ही परिमित क्यों रखें ? किसने आकाश के नक्षत्रों, अनन्त तारकाओं, आज तक बने हुए और भविष्य में बनने वाले असंख्यों लोकों को किसने गिना है ? किस मनुष्य की आँख आकाश की गहराई का माप और तोल कर सकती है ? प्रकाश १,८०,००० मील तक प्रति सैकण्ड की गति से चलता है ? ऐसे भी तारे हैं जिनसे प्रकाश की किरणें उत्पत्ति के दिन से, अर्थात् आज से करोंड़ों वर्ष पहले से चली हैं और आकाश में से १,८०,००० मील प्रति सैकेण्ड की अलौकिक गति से यात्रा करती हुई केवल हाल ही में हमारी पृथ्वी के अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुई हैं । जिस आकाश से हम सब ओर से घिरे हुए हैं उसकी अपरिमित गम्भीरता का अनुमान तो करो । क्या हम भिन्नता और बहुरूपता से प्रत्येक दिशा में चकित नहीं होते ? क्या भिन्नत्व सार्वजनिक सूत्र नहीं है ? संसार की यह बहुविध और विभिन्न वस्तुएँ कहाँ से उत्पन्न हुई हैं ? कैसे एक ही सार्वजनिक पितृ आत्मा ने, जो सब में व्यापक और सब पर दया किया करता है, संसार के भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न किया है ? भिन्नता का कारण कहाँ है ? भिन्नता भी ऐसी अद्भुत और एक दम ऐसी सुन्दर ! एक ही परमेश्वर ब्रह्माण्ड पर क्रिया करके कैसे एक पृथ्वी यहाँ और एक सूर्य वहाँ, एक ग्रह यहाँ और एक उपग्रह वहाँ, एक समुद्र यहाँ और एक शुष्क भूमि वहाँ, एक स्वामी यहाँ और एक भौंदू वहाँ उत्पन्न कर सका ? इस प्रश्न का उत्तर इस सौर रचना में ही अंकित है । वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ता हमें निश्चय दिलाते हैं कि जैसे साधारण लोग समझाते हैं वैसे रंग द्रव्य का कोई स्वाभाविक गुण नहीं है । परन्तु यह द्रव्य की घटना है । एक लाल वस्तु इसलिए लाल प्रतीत नहीं होती कि वह सारतः वैसी है, प्रत्युत एक बाह्य कारण के द्वारा ऐसी ज्ञात होती है । लाल और नीललोहित अंधकार में एक से काले ही प्रतीत होंगे । सूर्य की किरणों का चमत्कार ही है जो उन्हें यह विशेष सामर्थ्य यह

वर्णसम्बन्धिनी सुन्दरता, यह उचित रंगत प्रदान करता है। किसी एकान्त वन में, किसी निर्जन और अन्धकारमयी मरुस्थली में, एक श्रान्त पथिक, किसी विशाल वृक्ष की चित्तहारिणी छाया के नीचे जाकर आराम करने के लिए लेटा और वहाँ गाढ़ निद्रा में निमग्न हो गया। वह जागा और उसने अपने आप को चारों ओर अंधकार और घोर तम से आवृत पाया। किसी दिशा में भी कोई पार्थिव पदार्थ दिखाई न देता था। ऊपर एक घना काला गगन, मेघों से ऐसा ढका हुआ था जिसको देखकर यह विश्वास होता था कि यहाँ कभी सूर्य चमकता ही नहीं, दाईं ओर अन्धकार, बाईं ओर अन्धकार, सामने अन्धकार और पीछे अन्धकार। ऐसे ठोस अन्धकार के दारुण और भयानक भंवर में फंसा हुआ वह पथिक कष्ट पा रहा था। सहसा सूर्य की तापदायिनी किरणें, घने बादलों पर पड़ीं और मानो एक ऐन्द्रजालिक स्पर्श से यह ठोस अन्धकार गलने लगा और धारासार वर्षा होने लगी। इसने अन्तरिक्ष को उड़ते हुए धूली कणों से साफ कर दिया और एक नेत्रोन्मीलन में ही अन्धकार की आर्द्रता भरी चादर दूर हो गई और अपना सारा राज्य जागृत दृष्टि के लिए छोड़ गई। पथिक ने आनन्दप्रद विस्मय से अपनी दृष्टि एक ओर से दूसरी ओर फेरी और क्या देखा कि यहाँ एक गन्दी नाली बह रही है, वहाँ एक स्फटिकसा निर्मल सरोवर खड़ा है, एक ओर मखमली मैदान से भी अधिक सुन्दर हरी घास की गोचर भूमि और दूसरी ओर नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों का गुच्छा लहलहा रहा है। मोर की पूछ वाले पक्षी पतली-पतली टाँगों वाले मृग और स्वर्गीय पंखों वाले चहचहाते हुए विहंग सब के सब ऐसे दृष्टिगोचर हुए। क्या सूर्य उदित होने से पूर्व वहाँ कुछ न था ? क्या अति सुन्दर वनस्पतियों से समृद्ध और पक्षियों के गान से परिपूरित हराभरा जंगल सारा क्षण भर में उत्पन्न हो गया ? स्फटिक तुल्य जल कहाँ पड़े थे ? नीला छत्र कहाँ था और सुगन्ध युक्त पुष्प कहाँ थे ? क्या वे निमेषमात्र में ऐन्द्रिय जालिका शक्ति द्वारा भूतप्रलय के तमोमय अव्यक्त, दूरवर्ती प्रदेश से लाये गये थे। नहीं। वे क्षणमात्र में उत्पन्न नहीं हुए। वे पहले ही यहाँ थे। परन्तु सूर्य की किरणों ने अपना प्रकाश उन पर न डाला था। अतीव सुन्दर दृश्यों के दिखाई देने के लिए पहले तेजोमय किरणें होतीं, आवश्यकता थी कि देदीप्यमान मण्डल की तेजोमयी किरणें होतीं, इससे पूर्व की आँखें सुगन्धमयी हरियाली के सुन्दर चित्ताकर्षक, सुस्वर, सुखद और शान्तिदायक दृश्यों में घूम सकतीं। हाँ, निश्चय ही इस प्रकार प्रकाशित हो रहा है, सूर्य आभा से जो सूर्य कि कभी नहीं छुपता, जिस सूर्य ने हमारे ग्रहों और सौर मण्डल को प्रकट किया। ज्योतिष्कृद्, जो सूर्य इस महती सृष्टि के विश्व दृश्य को विकसित करता है, विश्वदर्शन जो सूर्य कि अनादि है और सनातन काल से ही सब की भलाई के लिए निरन्तर कार्य कर रहा है, वह

अपने ज्ञान की किरणें सब ओर बिखेरता है। अतीव प्यासे, संतप्त गरम हवा से सूखे हुए प्रकृति के कण ईश्वरीय ज्ञान की सदा बहने वाली, सदा फूट कर निकलने वाली, सदा प्रकाशित करने वाली रश्मियों से अपने अद्भुत अस्तित्व और विश्वदिग्दर्शक प्रपंच के योग्य तत्त्वों और घटकों का पान कर तृप्त होते हैं। इस प्रकार यह जगत् कायम है। एक मध्यवर्ती सूर्य अनन्त रङ्ग उत्पन्न कर रहा है, एक मध्यवर्त्ती देव, अनन्त लोक और पदार्थ उत्पन्न कर रहा है। इसके साथ मोनियर बिलियम्स के अनुवाद की तुलना कीजिए—

"हे सूर्य, तू ऐसे वेग से जो कि मनुष्य के ज्ञान से बाहर है, सब को दिखाई देता हुआ, सदा चलता रहता है। तू आलोक को उत्पन्न करके उसके साथ विश्व ब्रह्मांड को आलोकित करता है।"

हमने दिखा दिया है कि क्यों हम छन्द और मन्त्र को पर्यायवाची समझते हैं। हमने यह भी देखा है कि कैसे मैक्समूलर छन्द और मन्त्र में भेद करता है। मन्त्र को वहाँ मध्यम काल सम्बन्धी परिभाषाओं से भरा हुआ और छन्दों से कुछ कम स्पष्ट समझता है। वह इसका मुख्य स्वरूप यह बताता है कि "यह गीत प्रायः यज्ञ कर्मों के लिए अभिप्रेत है"। मन्त्रकाल के सम्बन्ध में वह कहता है "एक नमूना, अश्व बलिदान और मूढ़ विश्वास मूलक व्यवहार का सविस्तार वर्णन करने वाला एक सूक्त, ही पर्याप्त होगा। (ऋग्वेद १।१६२)"।

अतएव हम ऋग्वेद के १६२वें सूक्त को उद्धृत करेंगे, क्योंकि यह मैक्समूलर का नमूने का सूक्त है। उसी का इस पर अनुवाद देंगे और फिर दिखायेंगे कि कैसे वैदिक साहित्य के अधूरे ज्ञान के कारण और इस नियम को भूल जाने से कि वैदिक संज्ञायें सब यौगिक हैं, प्रोफेसर मैक्समूलर एक विशुद्ध वैज्ञानिक सूक्त का, जो किसी प्रकार भी वेदों के छन्दों से पृथक नहीं, एक कृत्रिम, भारी और अत्यन्त मूढ़ विश्वासमूलक विधि या क्रिया के नमूने के सूक्त के तौर पर अनुवाद करता है।

हमारे विचारानुसार मैक्समूलर की व्याख्या इतनी असम्बद्ध, इतनी अस्पष्ट और इतनी बहिस्थ है कि यदि व्याख्या को संभव भी मान लिया जाय तो यह कभी भी किसी वास्तविक क्रिया का वर्णन नहीं समझी जा सकती और अब सूक्त को लीजिए। प्रथम मन्त्र यह है—

मानो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि ॥

मैक्समूलर इसका अर्थ करता है "मित्र, वरुण, अर्यमन्, आयु, इन्द्र ऋभुजों का स्वामी और मरुत हमें बलिदान पर देवताओं से उत्पन्न वेगवान घोड़े के गुण गाने के कारण न झिड़के।

उपर्युक्त व्याख्या, वास्तविक या सत्य समझी जा सकती है यदि प्रोफेसर मैक्समूलर यह सिद्ध कर दें कि वैदिक समयों के आर्य इस मूढ़ विश्वास का आदर करते थे कि कम से कम एक वेगवान् घोड़ा देवताओं से उत्पन्न हुआ था, और मित्र, वरुण, अर्यमन, आयु, इन्द्र, ऋभुजों का स्वामी और मरुत देवता, यज्ञ पर वेगवान् घोड़े के गुण सुनना न चाहते थे, क्योंकि अन्यथा कवि को झिड़कने के लिए उनके पास कोई कारण न था। इनमें से किसी भी पक्ष को प्रमाणित करना कदापि सम्भव नहीं। इस असभ्य की अत्यन्त विकृत कल्पना भी "देवताओं से उत्पन्न वेगवान् घोड़ा" ऐसे मूढ़ विश्वास से संकोच करती है। इस पक्ष को सत्य प्रमाणित करने के लिए नाममात्र पुराणों के अश्वमेध का निर्देश करना भी निरर्थक है। सारी सच्चाई तो यह है कि इस अश्वमेध के मिथ्या-ज्ञान की उत्पत्ति वैसी ही हुई है जैसे कि मैक्समूलर के अनुवाद की हुई है। यह वेदों के भाषा सम्बन्धी नियमों के अज्ञान से पैदा हुआ है, जिससे कि यौगिक अर्थ रखने वाले शब्द नाम विशेषण समझे जाते हैं, एक कल्पित मिथ्या-ज्ञान चलाया जाता है।

उदाहरणार्थ पूर्व उद्धृत मन्त्र को लीजिए। स्पष्टतया मैक्समूलर पर यह संस्कार है कि मित्र दिन का देवता है, वरुण आच्छादक आकाश का देवता है, अर्यमन् मृत्यु का देवता है, वायु या आयु पवन का देवता है, इन्द्र जलमय वायु मण्डल का देवता, ऋभु स्वर्गीय चित्रकार है, और मरुत, तूफानों का देवता है। परन्तु ये देवता क्यों हुए ? क्योंकि उसने इन शब्दों के यौगिक अर्थों पर ध्यान नहीं दिया और वह इन्हें नाम-विशेष समझता है। मित्र का शाब्दिक अर्थ सुहृदः, वरुण का श्रेष्ठ गुणों वाला पुरुष, अर्यमा न्यायाधीश या न्याय प्रवर्तकः, आयु का विद्वान् पुरुषः, मरुत का क्रियात्मक रूप से ऋतुओं के नियम का पालन करने वाले हैं। मन्त्र में जो अश्व शब्द आया है वह घोड़ा मात्र अर्थ नहीं रखता प्रत्युत इसके अर्थ तीन शक्तियों के भी हैं अर्थात् उष्णवाअग्नि, विद्युत और चुम्बकीय शक्ति। वस्तुतः इसका अर्थ कोई ऐसा पदार्थ है जो दूरी में से शीघ्र ले जा सकता है। अतः स्वामी दयानन्द इस सूक्त के आरम्भ में लिखते हैं। (ऋग्वेद भाष्यम्, दूसरा भाग, पृ० ५३३)।

अथाश्वस्य विद्युद्रुपेणव्याप्तस्याग्नेश्च विद्यामाह ॥

"यह सूक्त अश्वविद्या का व्याख्यान है जिसका अर्थ है घोड़ों को सिधाने की विद्या और विद्युत रूप में सर्वत्र व्याप्त अग्नि की विद्या।" अश्व का अर्थ अग्नि है, यह निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

अश्वं न त्वा वारवन्तम् विदंध्या अग्निं नमोभिः ॥ ऋग्वेद

अश्वं अग्नि शब्द प्रकट करते हैं कि अश्व का अग्नि अर्थ है। और पुनः **वृषो अग्निः समिद्धयतेऽश्वो न देववाहनः।**

तं हविष्मन्तईडते ।। (ऋग्वेद १।२७।१)

जिसका अर्थ है अग्नि अर्थात् अश्व वाहक पशु के समान उस विद्वान् को ले जाता है जो इस प्रकार उसके दूर-वाही गुणों को पहचानता है । अथवा पुनः—

वृषो अग्निः । अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति ।।
शतपथ ब्रा० १।३।३।२९-३० ।।

उपरोक्त उद्धरण ऊपर प्रदर्शित, अश्व के दोनों अर्थों को दिखाने के लिए पर्याप्त होंगे ।

प्रोफेसर मैक्समूलर मन्त्र के "देवजातः" का अर्थ देवताओं से उत्पन्न करता है । यह भी पुनः अशुद्ध है, क्योंकि यह फिर देव को उसके प्रचलित लौकिक अर्थ में लेता है, परन्तु वस्तुतः देवजातः का अर्थ देव-शब्द के दोनों ही अर्थ में हैं अर्थात् दिव्यगुण और विद्वान् पुरुष । पुनः मैक्समूलर "वीर्य" का "बलोत्पादक गुणों के स्थान" में केवल गुण अर्थ करता है अतः मन्त्र का सत्यार्थ यह है :—

हम दिव्य गुण-सम्पन्न तेजस्वी धोड़ों के बलोत्पादक गुणों का या अग्नि की प्रबल शक्तियों के गुणों का वर्णन करेंगे कि जिन्हें विद्वान् या वैज्ञानिक लोग उपयोग (बलिदान नहीं) के लिए आह्वान कर सकते हैं ।

सर्वोपकारी श्रेष्ठ पुरुषों, न्यायाधीशों, विद्वानों, शासकों बुद्धिमानों व्यावहारिक शिल्पियों को इन गुणों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

इसके साथ मैक्समूलर का अनुवाद मिलाओ ।

"मित्र, वरुण अर्यमन्, इन्द्र, ऋतुओं का स्वामी और मरुत हमें मत झिड़कें क्योंकि हम बलिदान पर देवताओं से उत्पन्न वेगवान् घोड़े के गुण कहेंगे ।

अब हम दूसरे मन्त्र को लेते हैं । वह यह है :—

यन्निर्णिजारेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नियन्ति ।
सुप्रांजो मेम्यद्विश्वरुप इन्द्रापूष्णेः प्रियमप्येति पाथः ।।२।।

मैक्समूलर इसका ऐसा अनुवाद करता है—

"जब वे शुद्ध सुवर्ण, भूषणों से अलंकृत घोड़ों के सामने से दृढ़ता से पकड़ी हुई बलि को ले जाते हैं, तो चिह्नित छाग आगे चलता हुआ 'मे मे' करता है । यह इन्द्र और पूष्ण के प्रिय पथ पर जाता है ।"

यहाँ पुनः इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं निकलता । छाग का 'मे मे' करना नहीं बलि के घोड़े के सामने से ले जाये जाने से और नहीं इसके आगे की ओर चलने से कोई सम्बन्ध रखता है । वस्तुतः यह अत्यन्त स्पष्ट है कि मैक्समूलर के अनुवादानुसार प्रथम मन्त्र का इसके साथ कोई निश्चित विशिष्ट

सम्बन्ध नहीं । हाँ, किसी विचित्र अचिन्त्य मिथ्याकथा ज्ञान के ढूँढ़ने या घड़ने पर तुली हुई कल्पना द्वारा कोई खेंचातानी का सम्बन्ध भले ही थोपा जाय ।

अब हम इस नियम के प्रयोग पर आते कि सब वैदिक संज्ञाएँ यौगिक हैं । मैक्समूलर रेक्णसा का अर्थ सुवर्ण भूषण करता है, जबकि इसका अर्थ केवल धन है (देखो निघण्टु २,१०) राति जो दान का कर्मपात्र दर्शाता है, ''बलि'' में बदला गया है । विश्वरूप जिसका केवल अर्थ है, वह पुरुष ''जो सब रूपों का ज्ञान रखता है'' चिह्नित में बदला गया है, अब जिसका अर्थ है केवल एक ही बार ज्ञान में उत्पन्न पुरुष जो दूसरी बार फिर उत्पन्न नहीं हुआ ''बकरे'' में बदला गया है, मेम्यत् मीश्र-हिंसायाम् धातु से है, पर इसका अर्थ यहाँ दिया गया है ''में में करता हुआ'' सुप्राँग जिसका अर्थ है प्रच्छ-ज्ञीप्सायाम् धातु से पूछना, अर्थात् वह व्यक्ति जो सुन्दरता से प्रश्न पूछने योग्य है उसका अर्थ किया गया है ''आगे जाता हुआ'' पाथ का, जो केवल पेय पदार्थ या अन्न अर्थ देता है, 'पथ' अर्थ किया गया है, और अन्ततः, इन्द्र और पूष्ण जिनका अर्थ प्रजाओं के शासक और बलवान् होना चाहिए था, अपने इन्द्र और पूष्ण नाम विशेषणों के साथ दो देवता प्रसिद्ध किये गये हैं । पाथ शब्द के सम्बन्ध में यास्क लिखता है—

पाथोऽन्तरिक्षं । उदकमपि पाथ उच्यते पानात् ।
अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव ।।

'मुखतो नयन्ति' जिसका अर्थ है, वे वागिन्द्रिय में से बाहर लाते हैं । अथवा वे समझाते या उपदेश देते हैं । पर इसका अर्थ मैक्समूलर करता है—सामने ले जाते हैं ।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि इस एक ही मन्त्र में नौ (९) ऐसे शब्द हैं जिनका मैक्समूलर ने अशुद्ध अनुवाद किया है । इस सबका कारण यही है कि शब्दों का यौगिक अर्थ भुलाया गया है और रूढ़ि या लौकिक अर्थ सर्वत्र अनुवाद में घुसेड़ा गया है । हमने जो शब्दों का अर्थ दिया है, उसके अनुसार मन्त्र का अनुवाद यह होगा :—

''पुरुष, जो यह उपदेश देते हैं कि जो धन पवित्र उपायों से उपार्जित किया गया है उसे ही अपना समझना वा व्यय करना चाहिए और जो लोग ज्ञान में उत्पन्न है और सुन्दरता से दूसरों को प्रश्न करने में, रूप विज्ञान में और मूर्खों को ठीक करने में निपुण हैं, वही और केवल ऐसे ही मनुष्य बल और शासकीय शक्ति का पान करते हैं ।''

इस मन्त्र का पहले के साथ यह सम्बन्ध है कि प्रथम मन्त्रोक्त अश्वविद्या का उन्हें ही अभ्यास करना चाहिए जिनके पास पवित्र उपाय है । जो विद्वान हैं और शासन और दमन करने का सामर्थ्य रखते हैं ।

अब हम १६२वें सूक्त के तीसरे मन्त्र पर आते हैं :—

एषः छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः
अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसायजिन्वति ।।३।।

मैक्समूलर इसका ऐसा अनुवाद करता है :—

"यह बकरा जो सब देवताओं के लिए नियुक्त है, पूष्ण के भाग के तौर पर पहले वेगवान् घोड़े के साथ चलाया जाता है, क्योंकि त्वष्टा इस प्रिय बलि को जो घोड़े के साथ लाई गई है, स्वयं कीर्ति की ओर उठाता है।"

यहाँ पुनः हम कल्पना के उसी कृत्रिम विस्तार को पाते हैं, जो इस अनुवाद का विशेष गुण है। बकरा कैसे "सब देवताओं के लिए नियुक्त हो सकता है" और साथ ही उसी समय वह अकेले पूष्ण का भी भाग होता है ? मैक्समूलर यहाँ एक कारण बताता है कि बकरा क्यों पहले पूष्ण के भाग के तौर पर ले जाया जाता है ? वह कारण यह है कि "त्वष्टा स्वयं इस प्रिय बलि को कीर्ति की ओर उठाता है।" अब यह त्वष्टा कौन है और उसका पूषण के साथ क्या सम्बन्ध है ? कैसे त्वष्टा स्वयं इस प्रिय बलि को कीर्ति की ओर उठाता है। यह सब प्रश्न हैं जो पाठक के एकान्त विचार से उत्तर पाने के लिए छोड़े जाते हैं। ऐसा अनुवाद केवल एक ही सेवा कर सकता है। वह यह कि जिन वैदिक ऋषियों को मैक्समूलर वेदों का कर्ता मानता है उन्हें मूर्ख बनाया जाए।

विश्वदेव्यः शब्द जिसका मैक्समूलर अनुवाद सब देवताओं के लिये नियुक्त करता है, व्याकरणानुसार कदापि यह अर्थ नहीं हो सकता। अधिक से अधिक जो कोई इस शब्द पर मैक्समूलर के लिये कर सकता है, यह है कि विश्वदेव्यः का अर्थ "सब देवों के लिये" होना चाहिये, परन्तु निरुक्त तो व्याकरण से अप्रमाणित एक संकलन मात्र है। विश्वदेव्यः विश्वदेव के सब साधु (देखो अष्टाध्यायी ४,४,९८) के अर्थ में यत् प्रत्यय लगाने से बनता है। उसका अर्थ है—

विश्वेषु देवेषुदिव्यगुणेषु साधु विश्वदेव्यः ।।

अर्थात् विश्वदेव्यः कोई एक पदार्थ है जो उपयोगी गुणों के उत्पन्न करने में सर्वोत्तम रूप से योग्य ही है। हमने बलार्थ वाची पूष्ण के मैक्समूलर के नाम विशेष रूप अर्थ का कथन दिया है। त्वष्टा का केवल अर्थ वस्तुओं का जोड़नेवाला, या दाहक्रिया कुशल है, पर इसे भी नाम विशेषण से बदला गया है। पुरोडाश का अर्थ है सुपक्वान्न पर इस का बलि अर्थ किया गया है, 'जो साथ लाया गया है, यह शब्द निस्संदेह मैक्समूलर की अपनी ओर से लगाये गये हैं ताकि उसके निरर्थक शब्दों का कोई अर्थ निकल आये। अर्वन्, जिसका निस्संदेह कभी घोड़ा भी अर्थ होता है, यहाँ ज्ञानार्थक है। क्योंकि यदि घोड़ा

अभिप्रेत होता तो किसी विशेषण ने अर्थों में ऐसा परिवर्तन कर दिया होता। सौश्रवसाय जिन्वति' का अर्थ है "अच्छे भोजन के निमित्त प्राप्त करता है" (वैदिक संस्कृति में श्रवस अन्नार्थक है) पर मैक्समूलर इसका अर्थ कर रहा है 'कीर्ति को उठाता है'। सत्यार्थ होगा "उपयोगी गुणान्वित बकरी, जो दूध देती है, वह घोड़ों के लिये बलकारी भोजन है। सर्वोत्तम अन्न तभी उपयोगी है, जब इसको एक योग्य पाचक ने भोजनों के गुणों के विशेष ज्ञान द्वारा निर्दिष्ट रीतियों से तैयार करके स्वादिष्ट भोजन बनाया हो।"

हमने सूक्त के पहले तीन मंत्रों के मैक्समूलर कृत अनुवाद की विस्तृत गुणदोषालोचना की है। उसमें दिखाया यही था कि वह कैसे प्रत्येक पग पर अशुद्धि करता है। और प्रत्येक स्थल में अशुद्धि इसी में है, कि शब्द के यौगिकार्थ के स्थान रूढ़ि अर्थ लिये गए हैं। एक मंत्र के बाद दूसरे मंत्र को लेते हुए सारे सूक्त को समाप्त करना और यह दिखलाना कि सारी भ्रान्तियों का मूल वैदिक संज्ञाओं के यौगिक अर्थ का अस्वीकार करना ही है, कठिन नहीं है। परन्तु हम पूर्वोक्त तीन मंत्रों को पर्याप्त समझते हैं। तथापि हम इस सूक्त के शेष मंत्रों का मैक्समूलर कृत अनुवाद अपनी प्रासङ्गिक टिप्पणी के साथ नीचे नोटों में देते हैं।

मैक्समूलर का अनुवाद—

४. जब तीन बार उचित ऋतुओं पर, पुरुष बलिदान योग्य घोड़े को चारों ओर ले जाते हैं तो देवताओं के पास जाता है, जो पूष्ण का भाग बकरा पहले आता है, जो देवों के वलि* की सूचना देता है।

५. हे! होता, अध्वर्यु, आवया (प्रतिप्रस्थाता), अग्निमिन्ध (अग्निध्र) ग्रावग्राभ (ग्रावस्तुत) और बुद्धिमान् शंस्ता (प्रशस्ता) तुम (वेदि के गिर्द) नदियों को भरो, उस बलि के साथ जो भले प्रकार तैयार और सुप्रसिद्ध है।

६. वे जो यूप (यज्ञ स्तम्भ) को काटते हैं और वे जो इसे ले जाते हैं, वे जो घोड़े के यूप के लिए चषाड (यज्ञ स्तम्भ के ऊपर की लकड़ी) को बनाते हैं और वे भी जोड़े के लिये पकाई हुई वस्तुओं को एकत्र करते हैं, उनका काम हमारे साथ हो।

७. वह आगे आया—(मेरी प्रार्थना अच्छी हुई है) चमकीली पीठ वाला घोड़ा देवों के लोक को जाता है। बुद्धिमान् कवि उसकी स्तुति करते हैं और

*यज्ञ का मूलार्थ है, कोई ऐसा कार्य जिसमें मनुष्यों वा वस्तुओं की सहकारिता आवश्यक है और जो उपयोगी परिणाम का देनेवाला है। पर योरोपियन विद्वान् इसे सदा ही बलि (सेक्रीफाईस) के अर्थ में लेते हैं। बलि का भाव एक विशुद्ध ईसाई भाव हैं, और वैदिक तत्त्वज्ञान में इसका कोई स्थान नहीं। यह आर्यावर्त के यथार्थ धर्म से बाहर हैं, अतः समस्त अनुवाद जिनमें शब्द आता हैं, भ्रम जनक समझने चाहिए।

हमने देवताओं के प्रेम के लिए अच्छा मित्र पा लिया है।

८. वेगवान् की रस्सी, घोड़े की पिछाड़ी सिरे की रस्सियाँ तंग लगाम बल्कि घास भी, जो उसके मुख में डाली गई हैं। ये सब जो तेरी हैं, देवताओं के साथ हो।

९. जो मांस छड़ी को चिमट रहा है, उसके जिस अंश को मक्खी खाती है, अथवा जो कुल्हाड़ी को चिमटा है, या बलिदाता के हाथों या नखों को, ये सब जो तेरे हैं, देवताओं के साथ हो + ।

१०. विष्ठा, जो उदर से निकलती है और कच्चे मांस के कुछ छोटे-छोटे टुकड़े, बलिदाता इस सारे को अच्छा हो तैयार करे और तब तक बलि को दुरुस्त करे, यहाँ तक कि वह अच्छी तरह पक जाय।*

११. रस, जो तेरे अग्नि से भुने हुए अंग से सीख पर बहता है, जब तू मारा जा चुका है यह भूमि या घास पर न बहे, वह देवताओं को दिया जाय, जो इसे चाहते हैं।**

१२. वे जो घोड़े की परीक्षा लेते हैं जब वह भूना जाता है, वे कहते हैं "यह सूँघने में अच्छा है, इसे परे ले जाओ" वे जो मांस बांटने का काम करते हैं, उसका भी काम हमारे साथ हो + ।

१३. उस स्थान का स्रुवा जहां मांस पकाया जाता है और रस छिड़कने के पात्र, गरमी को परे रखने के पात्र, पात्रों के ढकने, सीखें और चबकू, ये घोड़े को सजाते हैं।

+ मैक्समूलर यहां पाँच शब्दों को नाम विशेषों के समान रखता है और इसी कारण उनका यौगिक अर्थ स्वीकार नहीं करता। वेदि के गिर्द यह शब्द मैक्समूलर की कल्पना से निकले हैं क्योंकि बलियां वेदि पर की जाती है दोनों विचार वैदिक तत्त्वज्ञान से बाहर हैं।

* यहाँ मैक्समूलर ने वाक्य-रचना को नहीं समझा। मूल शब्द है अश्वस्यक्रविषः जिनका वह अर्थ लेता है, घोड़े का मांस, पर क्रविषः विशेषण है और अश्वस्य विशेष्य है, सारे का वास्तविक अर्थ है, पर रखने वाले घोड़े का, क्रविषः का अर्थ मांस का नहीं है, पद् धातु से क्रमु—पादविक्षेपे "पैर रखना है। तो मन्त्रार्थ होगा, जो कुछ मैला घोड़े को चिमटाता है उसके जिस अंश को मक्खी खाती है" इत्यादि। पुनः स्वरौ और स्वधितां शब्द छड़ी और कुल्हाड़ा अर्थ में लिए गए हैं, जो इनका कभी अर्थ नहीं।

** आमस्य क्रविषः जिसका अर्थ है "कच्चा भोजन जो कभी पचा नहीं और बाहर आ सकता है" इसे भी मैक्समूलर ने वैसे ही कच्चे मांस में अनुवादित किया आम उदर में अपक भोजन की अवस्था है। यहाँ पुनः मूलर मन्त्र रचना को नहीं समझता।

+ अग्निना पच्यमानात् जिसका अर्थ है 'क्रोधाग्नि से तपाये हुये' इसका मैक्समूलर अर्थ करता है "भुना हुआ" और हतस्य जो संचालित अर्थ रखता है, यहाँ मैक्समूलर द्वारा "मारा हुआ" अनुवादित किया गया है।

१४. जहां वह चलता है, जहाँ वह बैठता है, जहाँ वह हिलता है, घोड़े की पिछाड़ी जो कुछ वह पीता है और भोजन वह खाता है ये सब जो तेरे हैं देवताओं के साथ हो ++ ।

१५. धूमगन्ध वाली जमीन अग्नि तुझे सी सी मत करावे, चमकती हुई बटलोई मत उबले और फूटे । देवता घोड़े को स्वीकार करते हैं, यदि वह उन्हें विधिपूर्वक भेंट किया जाय ।

१६. जो चादर वे घोड़े पर फैलाते हैं और सुवर्ण भूषण, घोड़े की सिर की रस्सियाँ और पिछाड़ी, ये सब जो देवताओं को प्रिय हैं वे उनकी भेंट करते हैं ।

१७. यदि कोई तुझे एड़ी या चाबुक से मारे ताकि तू लेट जाय और तू अपने सारे बल से फुफकारे, तो मैं इस सारे को अपनी प्रार्थना से उसी प्रकार पवित्र करता हूं जैसे यज्ञ पर घी के चमस से ।

१८. कुल्हाड़ी देवों के प्यारे, वेगवान घोड़े की ३४ पसलियों के समीप आती है, क्या तुम अंगों को बुद्धिमत्ता से पूरा रखते हो, प्रत्येक जोड़े को ढूँढो और मारो x ।

१९. एक चमकीले घोड़े को मारता है, दो इसे पकड़ते हैं ऐसी यह रीति है । तुम्हारे अंगों में से वे, जो मैंने ऋत्वनुसार पकाये हैं, मैं उनको देवसमर्पित पिण्डों के समान अग्नि में बलि देता हूँ ÷ ।

२०. तेरी प्रिय आत्मा तुझे मत जलाए—जब कि तू निकट आ रहा है, कुल्हाड़ी तेरे शरीर से मत चिपटे । कोई लालची और अनाड़ी बलिदाता खड्ग से चुका हुआ, तेरे छिन्न-भिन्न अंगों को इकट्ठा मत फेंके ।

२१. निश्चय ही तू ऐसे नहीं मरता, तू क्लेश नहीं उठाता, तू देवताओं

++ इस मंत्र का अनुवाद विशेषतया ध्यान देने योग्य है । वाजिनम् शब्द जो बाज—अन्नार्थक से है, यहां घोड़ा अर्थ में लिया गया है और प्रोफेसर मैक्समूलर घोड़े की बल्कि अर्थ निकालने का इतना उत्सुक है कि इतने पर ही सन्तुष्ट न रहकर, वह मांसभिक्षां उपासते का अर्थ करता है ''वह मांस का सेवन करता है जबकि उसका अर्थ है ''वह मांस की अप्राप्ति का सेवन करता है । इससे क्या कुछ अधिक प्रष्टव्य हो सकता है ।

X मूलर कथित पसलियों की संख्या अवश्य ही गणनीय और निर्णय योग्य है । वंकी जिसका अर्थ है 'कुटिल गति' उसका यहाँ पसली अनुवाद किया गया है । इसके लिए प्रमाण चाहिए ।

÷ त्वष्टुरश्वस्य का यहाँ चमकीला घोड़ा' अनुवाद किया गया है, मानो अश्व नाम है और त्वष्टा इसका विशेषण । परन्तु असल बात इससे उलटी है । त्वष्टा विशेष्य है जो कि विद्युत को जानता है और व्याप्त्यर्थ वाचक अश्व विशेषण हैं । अनुवाद के अन्त में ''देव समर्पित'' यह शब्द स्पष्ट ही मैक्समूलर की ओर से जोड़े गये हैं, ताकि इस सारे को मिथ्या कथा का रंग दिया जाय ।

के पास सरल मार्ग से जाता है। इन्द्र के दो घोड़े, मरुतों के दो हरिण जोड़े गये हैं, और घोड़ा (अश्वियों के) गधे की धुरी के पास आया है।*

२२. यह घोड़ा हमे गायें, घोड़े, मनुष्य सन्तान और सर्वपोषक धन दें। अदिति हमें पाप से परे रखे, यह बलि का घोड़ा हमें बल दे।

पृ० ५५३-५५४।

''अब हम मैक्समूलर और उसकी व्याख्याओं को छोड़ते हैं और एक और भाष्यकार अर्थात् सायण की ओर आते हैं। सायण को वस्तुतः ही हरिवर्षीय वैदिक पाण्डित्य का पिता कहना चाहिये। सायण ही वह ग्रन्थकार है जिसके बृहद् भाष्यों से यूरोपियन लोगों ने देवमाला रूपी रस का पेट भर पान किया है। यह माधव सायण का ही भाष्य है कि जिस पर विलसन वैनफी और लैगलायस की व्याख्याओं का आधार है। यह सायण ही है, कि जिसके भाष्य सब सन्दिग्ध अवस्थाओं में प्रमाण के तौर पर पेश किये जाते हैं। किसी देव के कन्धों पर चढ़कर वामन यदि उससे दूर देख सकता है, तो फिर भी देव की अपेक्षा वह वामन ही है।'' यदि आधुनिक वैयाकरण और कोषकार, सायण की चोटी पर खड़े होकर वेद का अपना मुख्य ज्ञान सायण से लेकर अब यह कहें कि ''सायण वेदों का वह अर्थ जताता है कि जो कि भारत में कुछ शताब्दि पूर्व प्रचलित था, परन्तु तुलनात्मक भाषा-विज्ञान हमें वह अर्थ बताता है जो कवियों ने स्वयं अपने गीतों और कथनों को दिया था।**'' अथवा यदि यह कहें कि हमें एक भारी लाभ यह है कि एक शब्द के अर्थ जाँचने के लिए हमारे पास ऐसे दश या बीस वाक्यों का संग्रह है जिसमें कि वह शब्द आता है, और यह सुभीता सायण को न था। तो कोई आश्चर्य नहीं। सारे वेदों. परम प्रसिद्ध ब्राह्मणों और एक कल्प ग्रन्थ का बृहदाकार भाष्यकार, सुविख्यात मीमांसक, और वैयाकरण माधव सायण, जिसने संस्कृत धातुओं पर एक पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति लिखी ? अब भी हमारे आधुनिक भाषातत्व-वेत्ताओं और विद्वानों के मुकाबले में पाण्डित्य का एक आदर्श और स्मरण शक्ति का भीमाकार देव है। अतएव आधुनिक विद्वानों को यह सदा हृदयंगम करना चाहिए कि सायण प्राण है उनकी विद्वत्ता का, उनके तुलनात्मक भाषातत्व-विज्ञान

* ''हरि'' पुनः रूढ़ि शब्द के समान इन्द्र के दो घोड़ों के अर्थ में लिया गया है और पृषती के मरुतों के दो हरिण अर्थ किये गये है। घोड़े की धुरी कदाचित एक ऐसा कौतूहल है जिससे बढ़कर मैक्समूलर मिथ्या-कथा-ज्ञान का चिह्न और कोई उपस्थित नहीं कर सकता था।

** यह वचन प्रोफेसर गोल्डस्टकर की 'पाणिनि और संस्कृत साहित्य में उसका स्थान' नामक पुस्तक से संग्रह किया है। गोल्टस्टर ने ''राथ'' की यह सम्मति उद्धृत की है। स्वयं वह इसे अस्वीकार करता है। (देखो पाणिनि कार्यालय प्रयाग द्वारा प्रकाशित संस्करण का पृष्ठ १८९, १९०, भगवद्दत्त।

का और उनके इतने गर्वास्पद वेद—व्याख्यानों का। जब सायण स्वयं रोगग्रस्त था, तो यह तो हो नहीं सकता कि आधुनिक विद्वानों के परिश्रम का चाहे कितना ही मूल्य हो, तो उनका सापेक्ष भाषातत्व—विज्ञान, उनके नवीन व्याख्यान और उनके नाममात्र अद्भुत पराक्रम रोगग्रस्त न हों। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि आधुनिक (पश्चिमीय) तुलनात्मक भाषातत्व विज्ञान और वैदिक विद्वत्ता की संजीवनी शक्ति सायण की विद्वत्ता की रोगग्रस्त और दोषयुक्त खाद्य सामग्री से ही व्युत्पन्न हुई है। शीघ्र या देर से यह रोग अपने अन्तिम लक्षणों को विकसित करेगा, और जिस संजीवनी शक्ति को यह उत्पन्न करता हुआ प्रतीत होता था, उसका समुलोच्छेद कर देगा। वृक्ष की कोई भी शाखा सजीव मूल से पृथक् की जाने पर फलफूल नहीं सकती। अन्य के वेदों के कोई भी व्याख्यान फलीभूत न होंगे जब तक कि वे निरुक्त और ब्राह्मणों में दिये वेदों के सजीव अर्थों के अनुकूल न हों।

मैं यहाँ ऋग्वेद से एक मंत्र उद्धृत कर यह दिखाऊँगा कि सायण का व्याख्यान किस प्रकार निरुक्त के व्याख्यान से मूलतः भिन्न है। मन्त्र ऋग्वेद १०.५६ से है।

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्रानां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥

सायण कहता है :—

परमात्मा स्वयं इन्द्र अग्नि इत्यादि देवताओं के मध्य में ब्रह्म के रूप में प्रकट होता है। वह नाटककारों और गीति रचयिताओं में कवि ब्राह्मणों में वसिष्ठ इत्यादि, चार पैर वाले पशुओं में भैंस, पक्षियों में श्येन और जंगल में कुल्हाड़े के रूप में प्रकट होता है। वह पवित्र गंगाजल से भी बढ़कर पावनी शक्ति रखने वाला मन्त्रदूत सोम रस है, इत्यादि।

इस अनुवाद पर उस काल की छाप लगी हुई है जबकि यह किया गया था। यह एक पण्डित का यत्न है जो कि उसने लोक-प्रिय पक्षपात और भाव को अपील करके अपने नाम की प्रतिष्ठा के लिए किया है। यह स्पष्ट है कि जिस समय सायण ने भाष्य लिखे उस समय भारत का धर्म ''अद्वैतवाद'' था ''प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है'' था, स्पष्टतः मूढ़ विश्वास इतना बढ़ गया था, कि गङ्गा का जल भी पूज्य समझा जाता था, ईश्वर के अवतारों में विश्वास था और ब्रह्मा, वसिष्ठ और अन्य ऋषियों की पूजा पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। यह संभवतः नाटककारों और कवियों का काल था। सायण स्वयं किसी शहर या कस्बे का रहनेवाला था। वह ग्रामीण न था। वह जानता था कि जंगलों को नष्ट करने का साधन कुल्हाड़ा होता है, पर वह ऐसे ही साधन विद्युत या अग्नि को नहीं जानता था जो कि कुल्हाड़े से भी अधिक बलवान् हैं। उसका अनुवाद

वेद के आशय को प्रकट करने के स्थान में उसके अपने काल का चित्र उपस्थित करता है। उसका ब्रह्मा, कवि, देव, ऋषि, विप्र, महिष, मृग, श्येन, गृध्र, वन, सोम, पवित्र का अनुवाद बिना किसी अपवाद के सर्वथा रूढ़ि या लौकिक है।

अब यास्क का व्याख्यान उसके निरुक्त १४, ३ में देखिये। वहाँ एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो अपने यौगिक अर्थ में न लिया गया हो। यास्क कहता है :—

अथाध्यात्मं ब्रह्मादेवानामित्ययमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणा मिन्द्रियाणां पदवीः कवीनामित्ययमपि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणामृषिर्विप्राणामित्ययमप्यृषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणां महिषो मृगाणामित्ययमपि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्म्मणामिन्द्रियाणां श्येनोगृध्रानामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञान कर्मणो गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञान कर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठति स्वधितिर्वना नामित्ययमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते वनानां वनन-कर्मणामिन्द्रियाणां सोमः पवित्र मत्येति रेभन्नित्ययमपि पवित्रभिन्द्रियाण्य त्येति स्तूयमानः। अयमेवैतत् यमेवेवत् सर्वमनुभवत्यात्मगतिमाचष्टे।

अब हम यहां इस मन्त्र का यास्क का दिया अध्यात्मिक अर्थ कहते हैं। उसका अभिप्राय यह समझाने का है कि जीवात्मा एक केन्द्र-स्थानी चेतन सत्ता है जो सारे अनुभव का भोक्ता है। इन्द्रिय-प्रदर्शित बाह्यजगत् इस केन्द्रस्थानी सत्ता में अपने उद्देश्य और प्रयोजन को, और फलतः लीनता को प्राप्त हो जाता है। इन्द्रियों को देव कहा जाता है क्योंकि उनका कार्य बाह्य दृश्य चमत्कारी जगत् में होता है और क्योंकि उन्हीं के द्वारा बाह्य जगत् हमारे लिये प्रकाशित होता है। अतः आत्मा, जीवात्मा ही ब्रह्मा देवानाम् है, अर्थात् वह चेतन सत्ता है जो अपनी चेतनता के आगे इन्द्रिय प्रकाशित सब कुछ उपस्थित करती है। ऐसे ही इन्द्रियों को कवयः कहा जाता है क्योंकि पुरुष उन्हीं के द्वारा अनुभव करता है। तब आत्मा पदवी कवीनाम् अथवा वह सत्य सत्ता है जो इन्द्रियों के कृत्यों को समझती है, पुनः आत्मा ऋषिर्विप्राणाम्, अर्थात् इन्द्रिय विषयों का द्रष्टा है, विप्र का अर्थ इन्द्रियाँ हैं क्योंकि उनसे उत्तेजित ज्ञान सारे शरीर में व्याप्त है। इन्द्रियों को मृग भी कहते हैं क्योंकि वे बाह्य जगत् में अपने विषयविशेषों को खोजती है। आत्मा महिषो मृगाणाम् अर्थात् प्रधान व्याध है। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः आत्म-शक्ति द्वारा ही इन्द्रियाँ अपने विषयाविशेषों को ढूँढ सकती हैं। आत्मा श्येन कहाता है क्योंकि अनुभव शक्ति इसी की है, और इन्द्रियाँ गृध्र हैं क्योंकि वे इस अनुभव के लिए सामग्री प्रस्तुत करती हैं। तो आत्मा इन इन्द्रियों में व्याप्त है। पुनः यह आत्मा स्वधितिर्वनानाम् अर्थात् स्वामी है जिसकी सब इन्द्रियाँ सेवा करती हैं। स्वधित का अर्थ है

आत्मा, क्योंकि आत्मा की चेष्टा सब अपने लिए हैं यतः पुरुष स्वयं एक उद्देश्य है । इन्द्रियों को वन कहा जाता है क्योंकि वे अपने स्वामी अर्थात् जीवात्मा की सेवा करती है । यही आत्मा है जो स्वस्वभाव में पवित्र होकर सबको भोगता है । यह है यौगिक अर्थ जो यास्क इस मंत्र का करता है । यह अर्थ सायण के अर्थ के विपरीत, जो कि कोई यथार्थ भाव नहीं जताता न केवल अविरुद्ध और बुद्धिगम्य ही है और सायण के विपरीत जो कि शब्द के लोकप्रिय अर्थ के बिना और कुछ जानता ही नहीं, न केवल इस का प्रत्येक शब्द अपने यौगिक अर्थ में स्पष्टतया निश्चित ही है, प्रत्युत इस में अर्थ की वह सरलता, नैसर्गिकता और सत्यता भी पाई जाती है जो कि इसे सब देश और काल से स्वतन्त्र कर देती है और जिसका यदि सायण के अर्थ की कृत्रिमता, अस्पष्टता और स्थानीयता से मुकाबला किया जाय तो सायण की वैदिक व्याख्या के नियम से पूर्ण अज्ञता प्रकट होगी ।

यही सायण है, जिसके वेदभाष्यों पर यूरोपियन विद्वानों के अनुवादों का आधार है ।

अब हम मैक्समूलर और सायण को उनके रूढ़ि अनुवादों के साथ छोड़ते हैं और एक अन्य प्रश्न पर आते हैं, जो उपरोक्त प्रश्न से यद्यपि दूर का सम्बन्ध रखता है तथापि इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके पृथक् निरूपण की आवश्यकता है । यह प्रश्न है जिसका सम्बन्ध वेदों के मत से है । यूरोपियन विद्वान् और मूर्तिपूजक मूढ़ विश्वासी हिन्दू यह सम्मति रखते हैं कि वेद असंख्य देवी देवताओं की पूजा का उपदेश करते हैं । यह देवता शब्द भ्रान्ति का एक अत्यन्त फलोत्पादक स्रोत है और यह अत्यन्तावश्यक है कि इसका यथार्थ अर्थ और प्रयोग निश्चित किया जाय । इस देवता शब्द के वैदिक अर्थ को न समझते हुए और दीन मूर्तिपूजा में जीर्णभूत मिथ्या-कथा-ज्ञान सम्बन्धी देवी देवताओं में विश्वास के लोकप्रिय मूढ़विश्वासजनक व्याख्यान को सहजता से मानते हुए यूरोपियन विद्वानों ने वेदों को ऐसे पदार्थों की पूजा से परिपूर्ण माना है और वेदों के प्रति आदर में वे इतने बढ़े हैं कि उन्होंने इनका मत अनेकेश्वरवाद से भी नीचे गिराया है और कदाचित् नास्तिकता के समतुल्य बना दिया है । अपनी उदारता की तरङ्ग में यूरोपियन विद्वानों ने इस मत को एक उपाधि, एक नाम प्रदान करने की दया दिखाई है और वह नाम हीनोथीइज्म है ।

मतों का अनेकेश्वरवादी, द्वैतवादी और अद्वैतवादी विभाग करके मैक्समूलर लिखता है 'दो और श्रेणियों—हीनोथीइस्टिक और अनीश्वरवादियों— का जोड़ना निस्सन्देह आवश्यक होगा । हीनोथीइस्टिक मत अनेकेश्वरवादियों से भिन्न है, क्योंकि यद्यपि वे अनेक देवताओं के अस्तित्व को या देवताओं के नामों को

स्वीकार करते हैं, तथापि वे प्रत्येक देवता को शेष सब से स्वतन्त्र बतलाते हैं अर्थात् वही एक देवता, पूजक के मन में उसकी पूजा और प्रार्थना के समय विद्यमान रहता है। वैदिक कवियों के मत में यह विशेषता अत्यन्त प्रधान है। यद्यपि विविध सूक्तों में और कई बार एक ही सूक्त में अनेक देवता आहूत किये जाते हैं तथापि उनमें प्राधान्य का कोई नियम निर्णीत नहीं। और प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों और मानव मन की भिन्न-भिन्न याचनाओं के अनुसार यह कभी नीले आसमान का देवता इन्द्र, कभी आग का देवता अग्नि, कभी नभोमण्डल का प्राचीन देवता वरुण है जो बिना किसी प्रतिस्पर्धा के सन्देह या बिना अधीनता के विचार के पूजे जाते हैं। मत की यह असाधारण स्थिति, पृथक् पृथक् देवताओं की यह पूजा सम्भवतः सर्वत्र ही अनेकेश्वरवाद की वृद्धि में प्रथमारम्भ होती है, और इस कारण एक पृथक् नाम की अधिकारिणी है+।

इस नवीन मत अर्थात् हीनोथीइज्म के नियमों को अधिक स्पष्ट करने के लिये मैक्समूलर कहता है :—"जब ये व्यक्तिगत देवता आमन्त्रित किये जाते हैं, तो वे दूसरों की शक्ति से परिमित अर्थात् दर्जे में श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं समझे जाते। प्रार्थी अपने मन में प्रत्येक देवता को सारे देवताओं के समान ही अच्छा समझता है, उन प्रयोजनीय सीमा बंधनों के होते हुए भी जो देवताओं का बहुत्व, हमारे मन में प्रत्येक स्वतंत्र देवता पर नियत करता है, प्रार्थना के समय, उस देवता को ईश्वरवत् अर्थात् सर्वोत्कृष्ट और स्वाधीन ही अनुभव किया जाता है। कवि की दृष्टि से क्षणमात्र के लिए शेष सब (देवता) लुप्त हो जाते हैं, और केवल वही, जिसने कि पूर्वजों की इच्छाओं को पूर्ण करना है उनकी आँखों के सामने पूर्ण प्रकाश में खड़ा होता है। तुम में हे देवो! न कोई छोटा है न कोई बालक है, निस्सन्देह तुम सब बड़े हो। यह एक ऐसा भाव है जो, यद्यपि शायद वैवस्वत मनु जितनी स्पष्टता से प्रकट नहीं किया गया तथापि वेद की सारी कविता का मूलाधार है। यद्यपि कई बार स्पष्टतया देवताओं को बड़े और छोटे युवा और वृद्ध (ऋ०१,२७,१२) कहकर आह्वान किया जाता है, तो भी दिव्य शक्तियों के लिए अत्यन्त व्यापक वचन ढूंढने का यह यत्नमात्र है, और देवताओं में से किसी एक को कहीं भी दूसरों का दास नहीं दर्शाया गया।

उदाहरणार्थ, जब आग का देवता, अग्नि, सम्बोधित होता है, तो वह प्रथम देववत् कहा जाता है, यहाँ तक कि उसे इन्द्र से भी कम नहीं समझा जाता। जब अग्नि आहूत होता है, तो इन्द्र भूल जाता है, दोनों में कोई मुकाबला नहीं, और न ही उनमें वा अन्य देवताओं में कोई प्रतिद्वन्द्विता है। वेद मत में यह एक अत्यन्तावश्यक चिह्न है। जिन लोगों ने पुरातन

+ मैक्समूलर विरचित "धर्म-विज्ञान" पर व्याख्यान लन्दन १८७३ पृ० १४१-१४२।

अनेकेश्वरवाद के इतिहास पर लेखनी चलाई है, उन्होंने कभी भी इस पर विचार नहीं किया ।*

हमने देख लिया कि मैक्समूलर की वेद के मत के विषय में क्या सम्मति है । हमें यह निश्चय रखना चाहिए कि अन्य यूरोपियन पण्डितों की सम्मति भी इसके विपरीत नहीं हो सकती । तो क्या वस्तुतः हीनोथीइज्म ही वेदों का मत है ? क्या देवताओं की पूजा का आवश्यक चिह्न है ? क्या हमें मैक्समूलर के कथन पर विश्वास कर लेना चाहिये । और यह प्रतिपादन करना चाहिए कि वह जाति कि जिसके स्वाभाविक एकेश्वरवाद को अस्वीकार करने से वह हिचक जाता है, अपनी सहज बुद्धि को इतना उखाड़ चुकी है कि वह हीनोथीइज्म ऐसे सम्प्राप्त वाद में विश्वास करने लगी है ? नहीं, ऐसा नहीं । वेद, प्राथमिक आर्यों की पवित्र पुस्तकें, चिन्तन-साध्य ऐकेश्वरवाद के सर्वोच्च प्रकार के परम पवित्र लेख हैं ।

योरुपीय पण्डित देर तक वेदों का अन्यथार्थ नहीं कर सकते, और नहीं वे सच्चे वेदार्थ के नियमों की उपेक्षा कर सकते हैं । यास्क कहता है—

अथातो दैवतं तद्यानिनामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा । यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ।। निरुक्त ७,१ ।।

'दैवत एक साधारण संज्ञा है और उन पदार्थों के लिए प्रयुक्त होती है जिनके गुणों की व्याख्या मन्त्र में की गई है ।'' उपरोक्त का तात्पर्य यह है कि जब यह जान लिया जाता है कि कौन-सा पदार्थ इस मंत्र के व्याख्यान का विषय है, तो इस पदार्थ को जानने वाली संज्ञा उस मंत्र का देवता कहाती है । उदाहरणार्थ इस मंत्र को लीजिए :—

अग्नि दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे देवां आसादयादिह ।।

यजु० २३ । १७

''मै तुम्हारे विचारार्थ अग्नि को धरता हूँ, जो समस्त सांसारिक सुखों का फलोत्पादक स्रोत है, जो दूतवत् कार्य करने के योग्य है और जिसमें हमारे सारे भोजनों के तैयार करने का विशेष गुण है । ऐ जनो ! तुम सुनो और वैसे ही करो ।''

क्योंकि अग्नि ही इस मंत्र का विषय है, इसलिए अग्नि इस मंत्र का देवता कहा जायगा । अतः यास्क कहता है मंत्र उस देवता का है कि जिसके गुणों के प्रदर्शनार्थ सर्वज्ञ परमात्मा ने उस मंत्र को प्रकट किया ।

हम निरुक्त के एक और भाग में देवता शब्द का ऐसा ही अर्थ पाते हैं । यास्क कहता है :—

* मैक्समूल विरचित पुरातन संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५५२-५५३ ।

कर्म्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ।। निरुक्त १,२।।

जब कभी शिल्प-क्रिया का वर्णन होता है तो वह मंत्र जो उस क्रिया का पूर्णतया वर्णन करता है, उस क्रिया का देवता (या सूची) कहलाता है।

मन्त्र का देवता इसी अर्थ में एक सूची है अर्थात् मन्त्रार्थ की आवश्यक कुञ्जी है। शब्द के इस व्यवच्छेद में किन्हीं देवताओं या देवियों का संकेत नहीं, कोई देवमाला, कोई भूत-पूजा, कोई हीनोथीइज्म नहीं। यदि देवता का यह स्पष्ट और साधारण अर्थ समझा जाता, तो जिन मन्त्रों का मरुत अथवा अग्नि देवता है, वे कदापि आँधी के देवता या आग के देवता के प्रति कहे गये सूक्त न समझे जाते, प्रत्युत यह ज्ञात हो जायगा कि ये मंत्र मरुत और अग्नि के गुणों का क्रमशः निरूपण करते हैं। तब यह बात समझी जायगी जो कि निरुक्त में अन्यत्र कही गई है।

अर्थात् जो पदार्थ या जो व्यक्ति हमें कुछ लाभ पहुँचाने में समर्थ है, पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ है, अथवा उनको समझाने में समर्थ है, और अन्ततः जो प्रकाशों का प्रकाश है, वही देवता कहलाने योग्य पदार्थ है। जो कुछ ऊपर कह आये हैं यह उससे किसी प्रकार भी असंगत नहीं। क्योंकि मंत्र का देवता, जो मंत्रार्थ की कुञ्जी है, एक ऐसा शब्द है जो मंत्र का व्याख्यान बताने में समर्थ है और इसी कारण उस मंत्र का देवता कहा जाता है। इन देवताओं का वर्णन करते हुए यास्क कुछ ऐसे शब्द लिखता है जिनसे यहाँ तक प्रतीत होता है कि उसके काल से लोग मैक्समूलर और मूढ़ विश्वासी हिन्दुओं के देवी-देवताओं का, हां, उन देवी-देवताओं का, जो अब देवता की वैदिक संज्ञा से हमारे गले मढ़े जाते हैं, कुछ भी ज्ञान न था। यास्क कहता है —

अस्ति ह्याचारोबहुलम् लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं ।।

निरुक्त ७,१४ ।।

हम सारे संसार के साधारण व्यवहार में प्रायः देखते हैं कि विद्वान् पुरुष, माता-पिता और अतिथि (अर्थात् वे अभ्यागत-प्रचारक जिनका कोई निश्चित निवास नहीं, पर अपने धार्मिक उपदेशों द्वारा संसार का उपकार करते हुए इतस्ततः भ्रमण करते हैं) देवता समझे जाते हैं या देवता नाम से पुकारे जाते हैं। ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि यास्क के काल में धार्मिक अध्यापक, माता-पिता और विद्वान् पुरुषों को या ऐसे ही और लोगों को ही देवता कहते थे, दूसरे किसी को नहीं। यदि यास्क को कोई ऐसी मूर्तिपूजा या हीनोथीइज्म या देवता-पूजा, जिस के साथ कि मूढ़ विश्वासी हिन्दुओं का इतना प्रेम है और जिसे वेदों में ढूँढ़ने के लिये प्रोफेसर मैक्समूलर इतने व्यग्र हैं, ज्ञात होती, या यदि कोई ऐसी पूजा उसके काल में प्रचलित होती, तो चाहे वह पूजा में आप भाग नहीं लेता, पर यह असम्भव है कि वह इसका सर्वथा वर्णन ही न करता,

विशेषतः जब कि वह सामान्य रूप से मनुष्यों में साधारण व्यवहार का प्रकथन करता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि भू-पूजा या प्रकृति पूजा, न केवल वेदों और यास्क और पाणिनि और वैदिक ऋषियों मुनियों के कालों के ही बाहर है, प्रत्युत यह निश्चित है कि मूर्तिपूजा और इसका जन्मदाता मिथ्याकथा ज्ञान, कम से कम जहाँ तक आर्यावर्त्त का सम्बन्ध है, नवीन समयों की ही उपज है।

अब हम पुनः अपने विषय पर आते हैं। हमने देख लिया कि यास्क उन पदार्थों के नामों को, जिनके गुण मंत्र में वर्णित है, देवता समझता है। तब कौन से पदार्थ देवता हैं ? ये सब पदार्थ देवता हैं जो मानव ज्ञान का विषय बन सकते हैं। सारा मानव ज्ञान देश और काल की सीमा में बन्द है। हमारा कार्य कारण का ज्ञान, मूलतः घटनाओं की परम्परा का ज्ञान है और परम्परा समय के क्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। दूसरे हमारा ज्ञान अवश्य ही किसी वस्तु का ज्ञान होगा और वह वस्तु अवश्य ही कहीं होगी। यह अपनी स्थिति और उत्पत्ति का अवश्य कोई स्थान रखेगी। यह तो हुआ हमारे ज्ञान की अवस्थाओं, काल और स्थान का वर्णन। अब ज्ञान के तत्त्वों को लीजिये। मानव मन का अत्यन्त सूक्ष्म विभाग विषयाश्रित और आन्तरिक के बीच है। विषयाश्रित ज्ञान उस सारे का ज्ञान है जो कि मानव देह के बाहर घटता है। यह बाह्य जगत् के दृश्य चमत्कारों का ज्ञान है। वैज्ञानिक लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पदार्थ विज्ञान अर्थात् भौतिक जगत् का तत्त्व ज्ञान दो वस्तुओं के अर्थात् द्रव्य और शक्ति के अस्तित्व को प्रकट करता है। द्रव्य को हम द्रव्य रूप में नहीं जानते। द्रव्य में शक्तियों की लीलामात्र से ही दृष्टिगोचर परिणाम उत्पन्न हो रहे हैं और इन्हीं को हम जानते हैं। अतः बाह्य जगत् का ज्ञान शक्ति और उसके रूपान्तरों के ज्ञान में विलीन हो जाता है। तत्पश्चात् हम आन्तरिक ज्ञान की ओर आते हैं। आन्तरिक ज्ञान वर्णन में, पहले तो अहं अर्थात् जीवात्मा का ज्ञान है। आन्तरिक दृश्य चमत्कार, दो प्रकार हैं या तो वे मन की इच्छापूर्वक, बुद्धिपूर्वक, स्वयं-चेतन चेष्टाएँ हैं, जिनको इसी कारण विचारान्तर कृत कर्म कहा जा सकता है और या वे जीवात्मा के अस्तित्व से देह के व्यापारों से उत्पन्न हुए निष्क्रिय रूपान्तर हैं। अतएव इनको प्राणभूत चेष्टायें कहा जा सकता है।

अतः शेष का कारण से कार्य की ओर आने वाला तर्क हमें इन छः वस्तुओं तक ले जाता है अर्थात् काल, देश, क्रिया, जीवात्मा, विचारान्तर-कृत व्यवसाय और प्राणभूत व्यवसाय। तब ये वस्तुएँ देवता कहाने के योग्य हैं। उपरोक्त गणना से यह परिणाम निकलता है कि निरुक्त का वैदिक देवता सम्बन्धी लेख, जैसा कि हमने दिया है, यदि वस्तुतः सत्य है तो वेद में इन छः वस्तुओं, काल, देश, क्रिया, जीवात्मा, विचारान्तर कृत व्यवसाय और

प्राणभूत व्यवसाय, का ही नाम देवता होना चाहिये, अन्य किसी का नहीं। आओ, हम इस कड़ी परीक्षा का प्रयोग करें।

परन्तु ऐसे प्रत्येक मंत्र में हमें ३३ देवताओं का उल्लेख मिलता है :—

त्रयस्त्रिंशतांस्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ।। यजु० १४, ३१।।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्राविभेजिरे । तान्वै त्रयस्त्रिंद्दिवानेके ब्रह्मविदोकिदुः ।। अर्थव०१०,२१,४,२७।

"सब का स्वामी, जगत् का अधिपति, और सब का प्राण, सब वस्तुओं को ३३ देवताओं द्वारा धारण करता है।"

"सच्चे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं कि देवता अपने विशिष्ट सांग व्यवसायों को करते हैं और उसमें वा उसके आश्रय रहते हैं जो कि एक और अद्वितीय है।"

अतः हमें देखना चाहिए कि ये ३३ देवता कौन हैं, ताकि हम अपने कारण से कार्य की ओर आनेवाले तर्क से प्राप्त परिणामों से इनकी तुलना करने और प्रश्न का समाधान करने में समर्थ हो सकें। शतपथ ब्राह्मण कहता है :—

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिं शत्येव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिशदित्यष्टौ वसव एकादशरुद्रा द्वादशादित्यास्ता एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।।३।। कतमे वसव इति अग्निश्च पृथ्वी च वायुश्च चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव । एतेषु हीदं सर्वं वसुहितमेतेहीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति ।।४।। कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकदशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुक्रा-मन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ।।५।। कतमे आदित्या इति । द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्या । एते हीदं सर्वमाददानायन्ति तद्यदिदं सर्वमाददानायन्ति तस्मादादित्या इति ।।६।। कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नु रेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति । कतम स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञ इति पशव इति ।।७।। कतमे ते त्रयोदेवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैवं प्राणश्चेति । कतमोध्यऽर्ध इति योऽयंपवते ।।८।। तदाहुः यदयमेक एवं पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदास्मिन्निदं सर्व-मध्याध्योत्तेनाध्यर्धत् इति । कतम एको देव इति स ब्रह्मेत्याचक्षते ।। X

शतपथ कां० १४, ६। उपरोक्त का अर्थ यह है—

याज्ञवल्क्य कहता है, हे शाकल्य ! देवता ३३ हैं, ८ वसु, ११ रुद्र

X देखो स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेद भूमिका पृष्ठ ६६।

१२ आदित्य, इन्द्र, प्रजापति, ये सब मिलकर ३३ हैं। आठ वसु ये हैं। १. जगत् के अग्निमय पदार्थ २. ग्रह, ३. वायु, ४. अन्तरिक्ष, ५. सूर्य, ६. आकाश मण्डल (ईश्वर) की किरणें, ७. उपग्रह, ८. तारागण। ये वसु (निवास) इसलिये कहाते हैं कि प्राणधारियों का सारा समूह इनमें बसता है, अर्थात् वे उस सबका वास हैं जो जीता है, क्रिया करता है, या अस्तित्व रखता है। ११ रुद्र हैं, इसमें से १० तो नाड़ियों की शक्तियाँ कि जिनसे नर-देह जीवित है और ग्यारहवीं जीवात्मा है। ये रुद्र इसलिए कहाते हैं, जब वे शरीर को छोड़ते हैं, तो यह मर जाता है और मृतक के सम्बन्धी इस त्याग के कारण रोने (रुद् रोदने धातु से) लगते हैं। बारह आदित्य बारह सौर मास हैं, जो कि काल की गति को जानते हैं। उनका नाम आदित्य इसलिए है कि वे अपनी गोल गति द्वारा सब पदार्थों में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं और इसी कारण प्रत्येक पदार्थ की जीवन अवधि समाप्त होती है। इन्द्र सर्वत्र व्यापक विद्युत् या क्रिया है। प्रजापति यज्ञ (या अर्थ सिद्ध्यर्थ मनुष्य सम्पादित गतिमान्, विचारोत्पन्न पदार्थों की संगति या दूसरे पुरुषों से पठन-पाठनार्थ संगीत) है। इसका अर्थ उपयोगी पशु भी है। यज्ञ और उपयोगी पशुओं को प्रजापति कहते हैं, क्योंकि ऐसे ही कर्मों और ऐसे ही पशुओं द्वारा समस्त संसार अपने जीवन के पदार्थों को उपलब्ध कर रहा है। शाकल्य पूछता है, "फिर वह तीन देवता कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य कहता है कि तीन लोक (अर्थात् स्थान, नाम और जन्म) हैं। उसने पूछा कि दो देवता कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि प्राण (धन पदार्थ) और अन्न (ऋणपदार्थ)। फिर वह पूछता है कि "अध्यर्घ" क्या वस्तु है ? याज्ञवल्क्य उत्तर देता है "अध्यर्घ जगत् को धारण करनेवाला सार्वत्रिक विद्युत् है। यह सूत्रात्मा कहलाता है।" अन्ततः उसने जिज्ञासा की, एक देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, "सब का इष्ट उपास्यदेव परमेश्वर।"

इन्हीं ३३ देवों का वेदों में वर्णन है। आओ, देखें कि हमारा व्यवच्छेद हमारे कारण से कार्य की ओर आनेवाले तर्क से प्राप्त परिणाम के साथ कितना मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में परिगणित आठ वसु स्पष्ट ही आकाश (स्थान) हैं ग्यारह रुद्र एक जीवात्मा और दस नाड़ी जन्य शक्तियाँ हैं जिनको स्थूल रीति से मन की प्राणभूत चेष्टाएँ समझ सकते हैं, बारह आदित्य काल के अन्तर्गत हैं, विद्युत् सर्वव्यापिनी शक्ति है, और प्रजापति यज्ञ या पशु के अन्तर्गत मोटे तौर पर मन की गम्भीर और विज्ञ चेष्टाओं के विषय समझे जाते हैं।

इस प्रकार से ३३ देवता हमारे स्थूल विभाग के छः तत्त्वों के अनुरूप होंगे। क्योंकि यहाँ उद्देश्य सामान्य अनुकूलता दिखाना है न कि विस्तार की

सूक्ष्मता, इस लिये छोटे २ भेद उल्लेख से छोड़े जा सकते हैं।

अब यह स्पष्ट है कि देवता का जो व्याख्यान यास्क करता है, वही एक ऐसा व्याख्यान है जो कि वेदों और ब्राह्मणों से अविरुद्ध है। पुरातन आर्यों की पवित्र एकेश्वर पूजा के सम्बन्ध में कुछ भी सन्देह शेष न रहे, इसलिये हम पुनः निरुक्त का वचन उद्धृत करते हैं :—

महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति। कर्मजन्मान आत्मैवैषांरथो भवति। आत्माऽश्वः आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ॥ निरुक्त ७,४॥

"अन्य सब देवों को छोड़कर केवल एक परमात्मा ही है जिसकी अपनी सर्वशक्ति सत्ता के कारण उपासना की जाती है। दूसरे देवता तो केवल इस परमात्मा के प्रत्यंग हैं अर्थात् वे परमेश्वर की महिमा के एक २ अंश को ही प्रकट करते हैं। ये सब देव अपना जन्म और बल उसी से प्राप्त करते हैं। उसी में उनकी लीला है। उसी के द्वारा उपयोगी गुणों को आकृष्टकर और हानिकारक गुणों को परे हटा करके अपने सुखप्रद प्रभावों को काम में लाते हैं। यही तो सब देवों का सर्वस्व है।"

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जहाँ तक उपासना का सम्बन्ध है पुराने आर्य केवल एक परमात्मा की ही उपासना किया करते थे, उसे ही वे जीवन और उसे ही संसार का प्रतिपालक और शयनागार समझते थे। इस पर भी धर्मपरायण ईसाई धर्म प्रचारक तथा और भी अधिक धर्मपरायण ईसाई भाषातत्त्ववेत्ता संसार के सामने यह असत्य फैलाते हुए कभी नहीं थकते कि वेद अनेक देवी देवताओं की पूजा की शिक्षा देते हैं। आर्यावर्त में एक ईसाई पादरी लिखता है :—

"एकेश्वरवाद एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास का नाम, और अनेक देवताओं की अनेकता में विश्वास का नाम अनेकेश्वरवाद है। मैक्समूलर कहता है "यदि हमें पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग करना पड़े तो वेद का मत अनेकेश्वरवाद है, एकेश्वरवाद नहीं।" ऋग्वेद का प्रथमाष्टक का २७ वां सूक्त इस प्रकार समाप्त होता है "बड़े देवताओं के लिये नमस्कार, वृद्धों के लिये नमस्कार, जहाँ तक हो सकता है हम अच्छे प्रकार देवताओं की पूजा करते हैं मैं ज्यायस (पुराने) देवताओं की स्तुति को न भूलूँ।"[Σ]

धर्मपरायण ईसाई वेदों के मत के विषय में अपने कथन को इन शब्दों में समाप्त करता है। अद्वैतवाद और अनेकेश्वरवाद प्रायः मिला दिये जाते हैं, परन्तु शब्द का सत्यार्थ लेते हुए, एकेश्वरवाद तो हिन्दू धर्म में मिलता ही

[Σ] जान ममरडच, धार्मिक संशोधन, भाग-३ वैदिक हिन्दूइज्म।

नहीं।'' पुनः वही पुण्यात्मा पादरी कहता है—जैसा कि पहले कह आये हैं राममोहनराय ने वेदों के सूक्तों का तिरस्कार किया, वह उपनिषदों को ही वेद कहता था, और समझता था कि वे एकेश्वरवाद सिखाती हैं। छान्दोग्य का वाक्य ''एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'' केशवचन्द्र सेन से भी अंगीकृत हुआ। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई दूसरा ईश्वर नहीं प्रत्युत दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं--यह एक सर्वथा भिन्न सिद्धान्त है।''

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि (परमात्मा के सत्य से परिपूर्ण) ईसाई, एकेश्वरवाद को न केवल वेदों में से ही प्रत्युत उपनिषदों में से भी बाहर निकाल देना चाहते हैं। ये लोग निम्नलिखित प्रकार के अनुवादों के बल पर अपनी स्थिति को सुरक्षित और दुर्भेद्य भले ही समझें :—

''आरम्भ में हिरण्यगर्भ सुवर्णाण्ड, उत्पन्न हुआ—वह इस सबका एक उत्पन्न हुआ स्वामी था। उसने पृथ्वी और आकाश की प्रतिष्ठा की :—वह कौन ईश्वर है कि जिसे हम अपनी हवि चढ़ायें ?'' मैक्समूलर।

''वह जो प्राण देता है, यह जो बल देता है, जिसके शासन का चमकीले देवता सत्कार करते है, जिसकी छाया अमृत है, जिसकी छाया मृत्यु है :—कौन ईश्वर है कि जिसे हम अपनी हवि चढ़ावें ? तथैव।

''हिरण्यगर्भ'' अर्थात् परमात्मा जिसमें कि सारा प्रकाशमान जगत् उत्पन्नावस्था में रहता है, उसका यहाँ स्वर्णाण्ड अनुवाद किया गया है। जातः शब्द अपने यथार्थ सम्बन्ध से तोड़ा गया है और पतिः से अन्वित किया गया है इस प्रकार इससे ''इस सबका एक उत्पन्न हुआ स्वामी'' अर्थ लिया गया है, कदाचित् इस ईसाई अनुवाद में एक गम्भीर अर्थ है। किसी दिन और वह दिन अधिक दूर नहीं, ये ईसाई आविष्कार करेंगे कि सुवर्णाण्ड का अर्थ है ''पवित्रात्मा से गर्भ में आया हुआ'' और इस सबका एक उत्पन्न हुआ स्वामी यीशु ख्रीष्ट की ओर संकेत करता है। उन आगामी मंगल दिनों में से किस एक दिन, वेद का यह मन्त्र एक अन्धकारमय सुदूरभूत में एक ख्रीष्ट (जिसे कि प्राचीन लोग नहीं जानते थे) के आगमन की भविष्यद्वाणी के बोधक के रूप में उद्धृत किया जायेगा। तब वे उसे निगूढ़ प्रश्न की भाषा के अतिरिक्त और कैसे पूज सकते थे ? इसीलिए यह अनुवाद हुआ ''कौन ईश्वर है कि जिसे हम अपनी हवि चढ़ावें ?'' दूसरा मन्त्र भी जिसका मैक्समूलर कृत अनुवाद हम ऊपर दे चुके हैं, एक धृष्ट ईसाई द्वारा अन्य प्रकारेण अनुवादित हुआ है जिसका मैक्समूलर ने ''वह जो प्राण देता है'' ऐसा अनुवाद किया है। उसी का इस ईश्वर वचन विश्वासी ने ''वह जिसने अपने आपको बलिदान किया (अर्थात् यीशु ख्रीष्ट) अर्थ किया है।'' संस्कृत के मूल शब्द हैं–

''य आत्मदा''

आओ, हम इन मन्त्रों और ईसाइयों के अमृत व्याख्यानों को छोड़ कर वेदों में एकेश्वरवाद के स्पष्ट प्रमाणों की ओर आयें। हम ऋग्वेद में वही मन्त्र पाते हैं जिससे कि हरिवर्षीय व्याख्याता सुवर्णाण्ड अर्थ निकालते हैं। वह इस प्रकार है :—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीम् द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋ० १०-१२१-१

''परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में विराजमान था, वह अनुत्पन्न भूतों का एक ही स्वामी है वही नित्य सुख है उसी की हम स्तुति और भक्ति करें।'' यजुर्वेद १७, १९ में हम यह पाते हैं :—

विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥

सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, और सर्व अन्तः क्रियावान् होते हुए, वह अपनी शक्ति से सारे संसार को स्थिर रखता है, और आप एक अद्वितीय है—और अथर्ववेद १३, ४, १६, २१ में हम यह पाते हैं—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते......
स एष एक एकवृदेक एव।
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति॥

ईश्वर न दो है, न तीन, न चार....न ही दस। वह है और केवल एक और सारे जगत् में व्यापक है। अन्य सब पदार्थ उसी में जीते, चलते और अपनी स्थिति रखते हैं।

———

४

जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण

अविद्या कैसी दुःखदाई है। पतंजलि कहते हैं कि अविद्या ही एक ऐसी भूमि है जहाँ पाप जड़ पकड़ सकते और फैल सकते हैं।* और है भी वह ठीक। संसार के सभी पाप नैसर्गिक शक्तियों को विमार्ग पर लगाने से ही पैदा होते हैं। इसका कारण भी अन्त में अविद्या ही है। यों तो अविद्या सब कहीं बुरी है पर मनुष्य की आत्मा विषयक अविद्या के मूर्छितकारी प्रभाव के नीचे लोग अपने आप को अपने जीवन सार से वंचित समझने लगते हैं। संसार के नाममात्र धर्म भी, आजकल के जड़वादियों के विषयाश्रित बाह्यवाद (objective externalism) की अपेक्षा, सन्देहवाद, बल्कि पूरे २ शून्यवाद के प्रचार में कुछ कम यत्न नहीं कर रहे हैं। सच तो यह है कि शून्यवाद को फैलाने में दार्शनिक और वैज्ञानिक लोगों के सरल और तर्क संगत निश्चयों ने उतना भाग नहीं लिया जितना कि नाममात्र धर्मों की धार्मिक शिक्षाओं ने लिया है। जिन परिमाणों पर निर्व्याज जिज्ञासु और निष्पक्ष विचारक पहुँचे हैं उनमें अधिक से अधिक बुरी बात यहीं है कि वे संदिग्ध और अस्थिर हैं। वे केवल एक रहस्य अथवा शरीर और मन के बीच एक अनियत सम्बन्ध मानकर ही ठहर जाते हैं। परन्तु हमारे सभी धर्मों के ब्रह्मज्ञानी इससे आगे जाते हैं। उनकी प्रतिज्ञायें निश्चित अभिमानपूर्ण और सन्देहरहित होती है। धार्मिक पादरी, जो पाश्चात्य जगत् के सर्वाङ्गपूर्ण राजनैतिक धर्म अर्थात् लोकप्रिय संस्कृत ईसाई धर्म को मानता है, इस प्रश्न का कि आत्मा क्या वस्तु है ? यह स्पष्ट उत्तर देता है कि प्रभु परमेश्वर ने पृथ्वी की धूलि से मनुष्य (आदम) को बनाया और उसकी नासिका में जीवन का श्वास फूंक दिया और मनुष्य एक जीवित आत्मा हो गयी। और मुहम्मद साहब का कुरान में दिया हुआ नफ़ख्तफिह का सिद्धान्त उसी की पुनरुक्ति मात्र है। वह प्रत्येक बात में बाइबल के वर्णन की प्रतिध्वनि है। मुसलमान और ईसाई लोगों ने इस प्रकार ही जीवन और मृत्यु की महान् समस्या को हल किया है। और इस प्रकार की जीवात्मा को एक श्वास मात्र बताया गया है। अपने नास्तिक ईसाई देश की बुद्धि के अनुसार महाकवि टिनसन प्रकृति देवी के मुख से इस प्रकार उत्तर दिलाता है :—

1. Thou makest thine appeal to me.
   I bring to life, I bring to death.

---

* योगसूत्र २,४

In Memoriam, 56, 2

The spirit does but mean the breath.

I know no more.

अर्थात् आत्मा केवल एक फूंक है । इससे बढ़कर मुझे और कुछ मालूम नहीं ।

इस प्रकार जीवात्मा को न केवल इसके यथार्थ व्यापारों और शक्तियों से ही वंचित किया गया है किन्तु इसके अस्तित्व से भी इन्कार किया गया है। यह कैसी असंगत कल्पना है, क्योंकि परमेश्वर के फेफड़े इस अनन्त अन्तरिक्ष में विचरने वाले असंख्य लोकों के संख्यातीत प्राणियों को जीवित रखने के लिए प्राणभूत अग्नि के श्वास लगातार निकालते-निकालते अवश्य थक जाते होंगे जिससे उसे प्रत्येक सातवें दिन पूर्ण विश्राम का प्रयोजन होता है । यह कल्पना असंगत ही नहीं किन्तु घोर हानिकारक और भ्रमजनक भी है । क्योंकि इससे बढ़ कर अनिष्टकर और क्या हो सकता है कि मनुष्य को एक शून्यता, एक आभास, एक श्वासभाव बताया जाय ।

एक बार इतना मान लीजिए कि मनुष्य की आत्मा कोई पदार्थ नहीं, या प्रकृति के समान प्रत्यक्ष और वास्तविक सत्ता नहीं, (बल्कि यह उससे भी अधिक वास्तविक है) । बौद्धों की तरह, एक बार मान लीजिए कि मनुष्य जीवन आकाश के दक्षिण उल्का के सदृश गुजर जाने वाली नश्वर चिंगारी है, या ईसाइयों की तरह यह केवल एक फूंक है या आधुनिक विषयाश्रित विकासवादियों की तरह, यह मान लीजिये, ''आत्मा केवल एक कल्पना है जो कि सब जातियों को अपने जंगली बाप दादा से बिरसे में मिली है'', ये जंगली लोग जब स्वप्न में किसी मित्र को अपने साथ बातें करते देखते थे और जागने पर जब वे उसे अपने पास नहीं पाते थे तब उनके अन्दर यह भावना होती थी कि प्रत्येक मनुष्य का उसके अनुरूप एक अदृश्य दूसरा आत्मा अवश्य है जो कि स्वप्नों में प्रकट होता है परन्तु वह स्पर्शनीय नहीं है । एक बार मनुष्य आत्मा का अभाव मान लीजिए और फिर देखिए कि सारे धर्म और सारे आचार का बना बनाया भवन किस प्रकार भूतलशायी हो जाता है । क्या मुक्ति को मुफ्त लुटाने वाले अलौकिक ईसाई धर्म का भवन आत्म बुद्धि की इस रेतीली नींव पर खड़ा हो सकता है ? ऐ वृथाभिमानी ईसाई ! अपने ब्रह्मज्ञान की ओर अपनी मुक्ति की कल्पना को पोंछ डाल, क्योंकि आत्मा कोई चीज नहीं जिसको बचाया जावे । जिसको तुम बचाना चाहते हो वह केवल एक आभास और श्वासमात्र है । यह कोई सार वस्तु नहीं है । और ऐ मुसलमानो ! अपने पैगम्बर (भविष्यद्वादी) के मध्यस्थ के सिद्धान्त को तिलांजलि दे दो, क्योंकि यह मध्यस्थ्य केवल एक आभास को ही, जो कि पहले ही अन्तर्धान हो चुका है या, शायद, एक घड़ी में नष्ट हो जायगा, नरक में पड़ने से बचायेगा । और

हे ! तुम सब लोग, जो आत्मा की उत्पत्ति में अर्थात् परमेश्वर की आज्ञा से उसके शून्यता से उत्पन्न होने में विश्वास रखते हो समझ लो कि जो चीज शून्यता से पैदा हुई है वह फिर उसी भूत प्रलय में जा गिरेगी जिससे कि वह प्रकट हुई थी, और उसका अभाव हो जायेगा ।

आत्मा के अभाव का मूढ़ विश्वास या कुसंस्कार धर्म के केवल प्रारम्भिक स्तरों तक ही परिमित नहीं । यह सभ्य संसार में फैलना आरम्भ हो गया है, यहाँ तक कि ''वैज्ञानिक कल्पना'' के किनारे तक पहुँच चुका है ।

ब्रह्माण्ड के स्वाभाविक सृष्टि होने की सारे भौतिक दृश्य चमत्कारों का कारण भौतिक पद्धतियों की रचना को या आकार के परिवर्तनों को बता कर ही बस नहीं कर देती, किन्तु वह जीवन तथा शरीर सम्बन्धी सभी दृश्य चमत्कारों को भी पिण्ड और गति के तत्त्वों का ही परिणाम सिद्ध करने का यत्न करती है । वण्ड्ट साहब शरीर शास्त्र के विषय में कहता है कि ''जो वाद अब (शरीर-शास्त्र में) प्रधान हो रहा है, और जिसे साधारणतः स्वाभाविक सृष्टिवाद या भौतिकवाद कहा जाता है, उसका मूल वह कारणिक कल्पना है जो कि सृष्टि-विज्ञान की सजातीय शाखाओं में चिरकाल से प्रचलित है । सृष्टि-विज्ञान प्रकृति को कारणों और कार्यों की एक ऐसी लड़ी समझता है जिसमें कारणिक कर्मों के अन्तिम नियम यंत्रित-विद्या के नियम हैं । इस प्रकार शरीर शास्त्र व्यावहारिक पदार्थ-विद्या की एक शाखा मालूम होता है । इसकी समस्या प्राणभूत दृश्यचमत्कारों को साधारण भौतिक नियमों और, इस प्रकार, अन्ततः यन्त्रगति विद्या के मौलिक नियमों का परिणाम सिद्ध करना है ।'' फिर अध्यापक हेकल और भी स्पष्ट शब्दों में कहता है—''विकास का साधारण सिद्धान्त यह मानता है कि प्रकृति में उत्कर्ष का एक महान् निरन्तर और चिरस्थायी क्रम जारी है, और कि सारे नैसर्गिक दृश्यचमत्कार, बिना किसी अपवाद के, आकाशस्थ लोकों की गति और लुढ़कते हुए पत्थर के पतन से लेकर पौधे की वृद्धि और मनुष्य की चेतनता तक, कारणत्व के उसी महान् नियम के अधीन हैं—अर्थात् वे अन्ततः परमाणु गतिशास्त्र के रूप में प्रकट होते हैं ।'' केवल इतना ही नहीं, किन्तु हेकल यह भी कहता है कि यह सिद्धान्त सृष्टि का युक्तिसंगत समाधान है और कारणिक सम्बन्धों के लिए बुद्धि की याचना को शान्त करता है, क्योंकि यह सृष्टि के सभी दृश्य चमत्कारों को विकास के महान् क्रम के भोगों के रूप में, या कारणों और कार्यों की माला के रूप में, जोड़ देता है''।[६] सृष्टि के स्वाभाविक होने की इस कल्पना के असर से ही डाक्टर बुचनर Dr. Buchner ने अपनी Matter and Force नामक पुस्तक में मनोविज्ञान या आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के अस्तित्व से इन्कार कर दिया है । अनेक लोग समझते

[६] Stallo's Coneepts Modern Physics, PP 19-20.

हैं कि सारी शक्ति और सारे मन की कैफियत देने के लिए प्रकृति और उसकी रासायनिक क्रियाएँ ही पर्याप्त हैं। फिर अनेक लोग ऐसे भी हैं जो व्यक्तित्व, अमरत्व, या प्रकृति की स्वतन्त्रता की भावना को कुसंस्कार या असंगति समझते हैं। यह दार्शनिक और वैज्ञानिक लोगों की बात है जिनको दिन रात सम्पूर्ण विनाश का भय बना रहता है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि पाश्चात्य देशों में विज्ञान और धर्म के बड़े-बड़े केन्द्रों में इस जड़वाद का चिरकाल तक प्रचार रहा है और अब भी प्रचार है तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि समय-समय पर ऐसे मनुष्य पैदा होते रहे हैं जिन्होंने निर्भय होकर प्रकृति के प्रदेशों की छानबीन की है। और विशुद्ध सत्य को समझने तथा बताने का यत्न किया है।

शरीर-शास्त्र में गहरी खोज करने से यह बात मालूम हुई है कि मनुष्य शरीर में स्वयं-स्थिति पालक शक्ति मौजूद है और भिन्न-भिन्न कालों के वैद्य और चिकित्सक लोग अपने रोगियों और मृतकों के वैद्य अनुभव के आधार पर इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मनुष्य देह में स्वयं उपशमकारिणी शक्ति है जो कि रोग को बाहर निकाल कर रोगी को स्वस्थ कर देती है। औषधियाँ उस उपशमकारिणी शक्ति की केवल सहायता के लिए हैं। इस प्रकार बालहल्मन्ट एक सूत्र मानने पर बाध्य हुआ था। इसका नाम उसने ''आर्च्युस'' (Archeus) रखा था और इसे वह जड़ और विषचेष्ट प्रकृति से स्वतन्त्र समझता था। यह सूत्र उस की राय में सब रोगों पर व्यापक था और विशेष औषधियों में रोगियों को स्वस्थ और चंगा करने वाली पर्याप्त शक्ति भर सकता था। इसी सूत्र को स्टाइल ने (anima) या चेतन शक्ति नाम से पुकारा था। इसे वह रोगों को दबाने के अतिरिक्त क्षतियों को पूरा करने वाला और पीड़ाओं को शान्त करने वाला भी मानता था। इसी सूत्र का नाम व्हायट ने 'चेतन सूत्र' रखा था। डाक्टर बल्लन ने इसे (Vusmedicatrix nature) नाम दिया था, डाक्टर ब्राउन ने इसे (Caloric) कलोरिक नाम से, डाक्टर डार्विन ने इन्द्रिय-शक्ति (Sensorial energy) नाम से, रश ने ''गुह्य कारण'' नाम से, ब्राउसेस (Brousais) ने प्राणभूत रसायन नाम से पुकारा था, और हूंपर उसे 'प्राणभूत सूत्र' नाम देता है। सजीव शक्ति, स्थिति पालक बल, मनुष्य प्रकृति की युक्ति और जीवन की शक्तियाँ इत्यादि अनेक नाम इस सूत्र के और भी हैं।

जहाँ एक तरफ डाक्टर और वैद्य लोग एक प्राणभूत सूत्र में विश्वास करने लगे हैं, वहाँ जीव विद्या पर आनुमानिक कल्पना इतनी बढ़ गई है कि वह जीवन की उत्पत्ति के प्रश्न की जाँच करने लगी है। और निष्कपट जिज्ञासु और सरल लेखक इस बात को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए हैं कि जीवन को भी एक कारण ही मान लिया जाय क्योंकि जो दृश्य चमत्कार सारे सजीव

जन्तु दिखलाते हैं उन में से अनेक ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध किसी भी ज्ञात भौतिक अथवा रासायनिक नियम के साथ दिखलाया नहीं जा सकता और जिनको, कम से कम, थोड़ी देर के लिए हमें जरूर ''प्राणभूत'' कहना पड़ेगा।[ε]

यह भी माना गया है कि प्रोटोप्लाज्म नाम का एक नमनीय कार्बन मिश्रण है जो कि कार्बन, आक्सीजन, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन नामक चार अवियोज्य मूल तत्वों का बना है और यही जीवन का भौतिक आधार है। इसी कारण बहुधा जीवन की रचनामयी उत्पत्ति के सिद्धान्त पर जोर दिया जाता है। परन्तु जीवन के इस भौतिक आधार का उल्लेख करते हुए यह अवश्य कहना पड़ेगा कि यद्यपि इन चार मूल तत्त्वों की विद्यमानता बाहर से इसे भौतिक आधार ठहराती है तथापि इस बात में भारी सन्देह है कि इसकी रचना सदा एक ही सी नियत होती है। यह अभी दिखलाया नहीं गया कि सजीव द्रव्य जिसका उचित नाम हमने प्रोटोप्लाज्म रखा है, सब अवस्थाओं में और सब कहीं एक ही दृढ़ और स्थिर रासायनिक रचना रखता है, और वास्तव में ऐसे अनेक कारण हैं जिनसे यह विश्वास करना पड़ता है कि इसकी रचना नियत और स्थिर नहीं। इसके अतिरिक्त नीचतम जन्तुओं में दिखलाई देने वाले प्राणभूत दृश्य-चमत्कारों के विषय में वैज्ञानिक लोग यह स्वीकार करने पर बाध्य हुए हैं कि प्राणभूत दृश्य चमत्कार के लिए इन्द्रियविन्यास का होना कोई वास्तविक और आवश्यक शर्त नहीं है। अमीबा (Amoeba) नामक जीवाणु के विषय में प्रोफेसर निकलसन कहते हैं—यह जीवाणु जिसका शरीर अर्द्ध तरल प्रोटोप्लाज्म के जंगम पिण्ड से कुछ ही बड़ा होता है, भोजन को जहाँ तक खुद परिणाम का सम्बन्ध है वैसी ही उत्तमता से पचाता है जिस प्रकार कि एक पूर्ण इन्द्रियाँ रखने वाला उच्च कोटि का जन्तु अपने जटिल पाचक यन्त्र (आमाशय) के साथ पचाता है। यह भोजन को अपने भीतर ले जाता है, बिना किसी पाचक इन्द्रिय के उसे पचाता है, और इसके अतिरिक्त इसमें वह गहन निर्वाचन शक्ति है जिसके द्वारा यह अपने भोजन में से अपने लिए आवश्यक तत्वों को निकाल कर अवशिष्ट को फेंक देता है। इसलिए, हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था में, हमें यह परिणाम, निकालना पड़ता है कि पाचन क्रिया में भी जैसी कि यह अमीबा में दिखाई देता है, कुछ ऐसी बात है जो कि केवल भौतिक या रासायनिक ही नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक शरीर में मरने के झट ही बाद, पहले ही सा प्रोटोप्लाज्म उसी रूप और उसी व्यवस्था में मौजूद होता है, परन्तु स्पष्ट रूप से उसमें उस चीज का अभाव हो जाता है जिससे कि उसके सभी विशेष गुण और क्रियायें नियमित, प्रत्युत कुछ एक तो उत्पन्न भी होती थीं। वह कुछ

ε Nicholson's Manual of zoology, 6th Edition.

क्या है ? यह हम नहीं जानते और शायद कभी जानेंगे भी नहीं, और यह सम्भव है, यद्यपि बहुत अनुपपन्न है कि भावी आविष्कार शायद सिद्ध कर दें कि यह किसी भौतिक शक्ति का रूपान्तर मात्र है। यह बहुत ही सम्भाव्य मालूम होता है कि प्रत्येक प्राणभूत क्रिया में कुछ चीज ऐसी होती है जो कि केवल भौतिक और रासायनिक ही नहीं होती, प्रत्युत जो कि एक अज्ञात शक्ति द्वारा व्यवस्थित होती है। यह शक्ति दूसरी सभी शक्तियों की अपेक्षा उच्चतर, श्रेष्ठतर, और सर्वथा उनके विभिन्न होती है। इस प्राणभूत शक्ति की विद्यमानता पोषण के अतीव सरल दृश्य चमत्कारों में भी देखी जा सकती है, और इस समय तक सन्तानोत्पत्ति के दृश्य चमत्कारों को किसी ज्ञात भौतिक अथवा रासायनिक शक्ति की क्रिया द्वारा स्पष्ट करने का यत्न नहीं हुआ।[Σ]

उसी का वर्णन करते हुए प्रोफेसर हक्सले कहता है—"ग्रेगरिनिडा (Gregarinda) के शरीर से नीचतर शरीर की कल्पना करना कठिन मालूम होता है, फिर भी अनेक रहाईपोडा (Rhizopoda) इससे भी अधिक सादा है। न ही कोई और ऐसा जन्तु समूह है जो इस अतीव दृढ़ सिद्धान्त को जो कि जीवन इन्द्रियविन्यास का कारण है, उसका कार्य नहीं, अधिक स्पष्ट रीति से प्रकट करता हो, क्योंकि इन नीचतम जन्तुओं में इन्द्रियविन्यास के नाम से पुकारे जाने योग्य बिल्कुल कोई वस्तु नहीं जिसे कि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से काम लेने वाले लोग नवनिर्माणित यन्त्रों की सहायता से मालूम कर सकें। इन जन्तुओं में से अनेक का शरीर गाढ़े रस के एक पिण्ड के सिवा और कुछ भी नहीं। इसे आप पतले सरेश का छोटा सा कण समझिये। इसका यह मतलब नहीं कि इसकी रचना सरेश से मिलती है प्रत्युत इसकी बनावट और रूप उसके सदृश होते हैं, यह रचना और इन्द्रियों से रहित होता है, और न ही इसके अवश्य नियत रूप से बने होते हैं। इस पर भी इसमें जीवन के सभी आवश्यक विशेष गुण और चिह्न होते हैं। यह एक अपने जैसे शरीर से ही उत्पन्न होता है और भोजन को पचाने और चेष्टा करने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, यह एक सीपी अर्थात् एक रचना पैदा कर सकता है। यह रचना या सीपी अनेक अवस्थाओं में असाधारण जटिल और बहुत सुन्दर भी होती है।

"गाढ़े रस के इस कण का, आप रचना शून्य और अवयवों के स्थायी भेद या भिन्नता से रहित होने पर भी, उन उत्कृष्ट और प्रायः गणित शास्त्रानुसार सुव्यवस्थित रचनाओं को उत्पन्न करने के लिए भौतिक शक्तियों को मार्ग दिखाने में समर्थ होना मुझे एक बहुत ही भारी महत्व की बात मालूम होती है।"[Σ]

1. Ibid, P, 9, note

[Σ] Nicholson's zoology, 6th Edition, P.P. 12-13.

[Σ] An Introduction to the classifications of animals by Thomas Henry Huxley, L. L. D. F. R. S. London, 1896.

वह परिणाम जिस पर कि उपर्युक्त बातें हमें पहुँचाती हैं और जिस पर कि हेकल पहुँचा है, यह है कि "उनके शरीरों तथा उनकी इन्द्रियों के आकार सर्वथा उनके जीवन का ही परिणाम हैं।" इससे यह स्पष्ट है चाहे इसे जीवन प्राणभूत सूत्र, व्यवस्थापक सूत्र, गुह्यकारण, इन्द्रिय शक्ति, (Vis medicatrix nature) और चेतन शक्ति आदि किसी भी नाम से पुकारो, आधुनिक वैज्ञानिक जगत् एक ऐसी सत्ता को देखने लगा है जिसका सम्बन्ध कि गतिशास्त्र सम्बन्धी शरीर-विद्या Dynamic physiology से है। इस सत्ता को वह जीवन नाम देता है। जब यह केवल एक श्वास, केवल एक आभास, या इन्द्रियविन्यास की केवल एक उपज ही नहीं रहा। अब तो यह एक सूक्ष्म, शुद्ध, गति-सम्बन्धी पदार्थ है, एक ऐसी सत्ता है जो इन्द्रियों की रचना करती है, जो वृद्धि जीवन-शक्ति और गति को पैदा करती, जो घावों को भरती है, क्षतियों को पूरा करती, खाती-पीती और अनुभव करती है, जो चैतन्य-युक्त है, जो कर्मों को पैदा करती है, और जो रोगों को रोकती, दबाती और चंगा करती है। यह है वह अनिवार्य परिणाम जिस पर कि पाश्चात्य देशों में निष्कपट जिज्ञासु और दार्शनिक लोग शरीर शास्त्र सम्बन्धी खोजों द्वारा पहुँचे हैं। इस प्रकार वे एक ऐसी सत्ता को मानने पर बाध्य हुए हैं (यदि तुम्हें अच्छा लगता है तो इसे भौतिक कह दो, पर है यह एक सत्ता) जिसे कि पूर्व के प्राचीन दार्शनिकों ने आत्मा नाम दिया था।

इस विषय में हमने जानबूझकर प्राचीन पूर्वीय विचारकों के प्रमाण नहीं दिये। इसका स्पष्ट कारण यह है कि वर्तमान कालीन भारत अपनी मानसिक चेष्टा, धर्म श्रद्धा और विश्वास मुख्यतया सभ्य पाश्चात्य इंगलैण्ड से ही प्राप्त करता है। यदि हम शुरू में अक्षरशः ठीक इन्हीं बातों को साबित करने के लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के प्रमाण उपस्थित करते, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इनका बिना किसी संकोच के मूढ़ विश्वासी अव्यवस्थित चित्त, अवैज्ञानिक और गले सड़े विचार वाले लोगों की बातें कह दिया जाता, यद्यपि इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों का अच्छे से अच्छा प्रमाण उपस्थित किया गया है फिर भी प्रमाण की वह सुव्यवस्थित और सर्वाङ्गपूर्ण परिगणना नहीं मिलती, जो कि एक निश्चित और अवधारित सम्मति का विशेष गुण है।

अब हम अपने यथार्थ विषय, जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण को वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से लेते हैं ? जैसा कि ऊपर कहा गया है आर्यावर्त्त के प्राचीन तत्ववेत्ता इस प्राणभूत सूत्र को आत्मा कहते थे। वैशेषिक में द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें गुण और क्रिया हो,[Σ] अथवा जिसको अंग्रेजी तत्वज्ञान में एक सबस्टेन्स (Substance) या इससे भी बढ़कर एक सबस्ट्रैटम (गुणाश्रय)

[Σ] क्रियागुणवत् समवायिकारमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ वैशेषिक सूत्र १, १, १५।

या नाउमेनन (Noumenon) कहा जायेगा। अतः यह स्पष्ट है कि आत्मा एक सत्ता हैं, जगत् के नौ मूल द्रव्यों (नाउमेना) में से एक मूलद्रव्य है और एक वस्तु है जिसमें कि गुण और क्रिया अन्तर्निष्ठ अन्तर्निहित है।

इसलिए हमें अपने आत्मा सम्बन्धी पहले विचारों को निकाल देना चाहिए जिससे, इस दर्शन के अनुसार हम उसके स्वरूप को अधिक उत्तम रीति से समझ सकें। अंग्रेज वेदान्त आत्मा को प्रायः कोई अभौतिक शून्यता समझने के कारण इस बात का कोई उत्तर नहीं दे सकते कि मन बाह्य जगत को कैसे जानता और उस पर कैसे क्रिया करता है। मानव मन को सर्वथा अभौतिक अर्थात् प्रकृति के सभी विशेष गुणों से जहाँ तक कि प्रकृति का वास्तविकता विस्तार या स्थान घेरने के गुण से भी रहित मान लेने के कारण उनकी बुद्धियों को बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रश्न होने पर मजबूरन ठहर जाना पड़ा है। उन्होंने प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण बाह्य जगत् के अनुभवों या दिव्य शक्ति द्वारा उत्पादित संवादों को बताकर इस प्रश्न को हल करने का व्यर्थ यत्न किया क्योंकि प्रश्न अभी वैसा का वैसा ही बना रहा।

एक कोमल और नमनीय मोमकी सिलाख लेकर उसे एक ऐसी सतह पर फैलाओ जिस पर कि एक ठोस, कठिन, चित्र खुदा हुआ हो। मोम पर बड़ी सुगमता से वह चित्र बन जायेगा। यह मोम पर संस्कार है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य पदार्थों का अनुभव उनके भौतिक होने के कारण सर्वथा अभौतिक आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता, क्योंकि हम उन पदार्थों के बीच जिनमें कोई गुण सामान्य नहीं, किसी भी क्रिया की कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ मन और प्रकृति को ले लीजिए। मन तो सर्वथा कल्पनात्मक, अदृश्य, अस्पृश्य, छायावत असार शून्यता और प्रकृति स्वतः विद्यामान, बाह्य वास्तविक, दृश्य, स्पर्शनीय, और इन्द्रियग्राह्य है। इसीलिए यह कहा गया था कि पदार्थों के अनुभव में जो कुछ होता है वह यह है कि पहले पहल ज्ञानाशय वाह्य पदार्थों का संस्कार ग्रहण करता है फिर ज्ञानाशय के इसी संस्कार का अनुभव अन्ततः आत्मा को होता है। परन्तु इससे समस्या हल नहीं होती। क्योंकि, यदि ज्ञानाशय बाह्य पदार्थों का संस्कार ग्रहण करता है तो चाहे कितना ही कोमल नमनीय और परिशोधित यह ज्ञानाशय क्यों न हो फिर भी यह भौतिक होगा क्योंकि चाहे कुछ ही क्यों न हो एक भौतिक वस्तु केवळ दूसरी भौतिक वस्तु पर ही संस्कार पैदा करती है। इसलिए वाह्य भौतिक जगत् का संस्कार ग्रहण करने के लिए खुद ज्ञानाशय का भौतिक होना आवश्यक है। यदि ज्ञानाशय भौतिक है जैसा कि हम इसे मानने पर बाध्य हुए हैं, तो समस्या हल न हुई, क्योंकि यह कठिनाई अभी तक भी हुई ही है कि सर्वथा अभौतिक मन ज्ञानाशय के भौतिक और बाह्य संस्कारों का किस प्रकार अनुभव कर सकता है।

कुछ दार्शनिकों का मत है कि ईश्वरीय मध्यस्थ ही इस कठिनता को दूर करने का एक मात्र साधन है इसलिए वे यह सिद्धान्त घड़ते हैं कि परमात्मा, सर्वशक्तिमान होने के कारण एक ओर तो भौतिक बाह्य जगत् में प्रकृति के भौतिक दृश्य चमत्कार पैदा करता है और दूसरी ओर मानस-जगत में प्रत्यक्ष रूप से अनुरूप आन्तरिक मानसिक परिवर्तन पैदा करता है । इसीसे हमें प्रतिक्षण न केवल प्रकृति और प्राकृतिक दृश्य-चमत्कारों का ही प्रत्युत सदृश्य मानसिक चमत्कारों का भी, जो ईश्वरीय इच्छा की प्रत्यक्ष क्रिया के कारण स्वावलम्बी है, ज्ञान रहता है । यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धान्त बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष ज्ञान का समाधान करने के स्थान में इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के अस्तित्व से ही बिल्कुल इन्कार करके इस जटिल ग्रंथ को ही काट डालता है । इस सिद्धान्त के कारण हमें न केवल अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से ही प्रत्युत खुद बाह्य जगत् से भी हाथ धो लेने पड़ते हैं, क्योंकि यदि हमें बाह्य जगत् का बोध न हो प्रत्युत ईश्वरीय माध्यस्थ्य की क्रिया से उत्पन्न हुए केवल मानसिक परिवर्तनों का ही ज्ञान हो, तो हमारे पास बाह्य जगत् के अस्तित्व का क्या प्रमाण है ?

जब हम प्रकृति पर आत्मा की क्रिया के समान और सदृश प्रश्न विचार करने लगते हैं तो बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष ज्ञान का समाधान और भी कठिन हो जाता है । मान लीजिए कि यहाँ बीस सेर का एक लोहे का गोला पड़ा है । आत्मा की आज्ञा से बाँह उठती है और गोले को उठा लेती है । अब यहाँ एक और रहस्य की व्याख्या की जरूरत होती है । एक सर्वथा अभौतिक, आत्मा एक सर्वथा भौतिक और जड़ बीस सेर के गोले को कैसे उठा सकती है ? अधीर पाठक उत्तर देगा कि गोला हाथ के कारण उठा है । लेकिन गोले के समान ही भौतिक हाथ को किसने हिलाया ? फिर शायद कोई यह भी कहे कि यह काम पट्ठों के नियम पूर्वक सिकुड़ने से हुआ, परन्तु पट्ठे भी भौतिक हैं, इसलिए प्रश्न वहीं बना रहता है कि पट्ठों को किसने सिकोड़ा ? इस पर वृथाभिमानी शरीर शास्त्र वेत्ता यह कह सकता है कि मस्तिष्क से एक नाड़ीगत लहर आई और उसने एकदम पट्ठों को सुकोड़ लिया । पर मन के सन्मुख फिर भी यह प्रश्न रहता है कि नाड़ीगत लहरों को किसने प्रोत्साहित किया ? आप कहेंगे कि आत्मा के संकल्प ने । अब फिर यहाँ सारे प्रश्नों का एक प्रश्न आ उपस्थित होता है कि क्या अभौतिक आत्मा अपने अभौतिक संकल्प से, ठोस, सफेद, तन्तुमयी, कोमल भौतिक नाड़ियों को अपना नाड़ीगत रस छोड़ने और पट्ठों को सिकोड़ने के लिए उत्तेजित कर सकता है ? इसलिए यह स्पष्ट है कि अंतिम पहेली से बचने का कोई उपाय नहीं । तो फिर यह पहेली आई कहाँ

से ? इसका उत्तर साफ है । आत्मा कोई सर्वथा अभौतिक असार, शून्य छायावत् या श्वास-रूप चीज है यह पहिले का बैठा हुआ झूठा ख्याल ही इसका जन्मदाता है ।

एक बार इतना मान लीजिए, जैसा कि वैशेषिक दर्शन सिखाता है कि आत्मा वैसा ही द्रव्य है जैसा कि प्रकृति, वैसा ही गुणाश्रय या वस्तु है जैसा कि साधारण बाह्य पदार्थ, फिर यह स्पष्ट हो जायेगा कि किस प्रकार एक वस्तु दूसरी पर क्रिया कर सकती है या उसके संस्कार को ग्रहण कर सकती है। यह विचित्र वस्तु, आत्मा दो महान अभिव्यक्तियों ऐच्छिक और अनैच्छिक का स्थान है । आत्मा के ऐच्छिक या चेतन व्यापार प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुवभ और संकल्प हैं । इनका दूसरा नाम बुद्धि, सुख-दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न भी है । यह ऐच्छिक व्यापार उन सब अध्यात्मवादियों के लिए वितद का विषय बने रहे हैं जिन्होंने कि अज्ञान से या जानबूझकर व्यापारों के दूसरे समूह अर्थात् प्राणापान (श्वास प्रश्वास) निमेषोन्मेष (आँख का झपकना), जीवन (शरीर निर्माण और चेतन), मानस (ज्ञानेन्द्रिय), गति (चेष्टा), इन्द्रिय (इन्द्रियों का व्यापार), अन्तर्विकरण (ऐन्द्रियिक अनुभव) पर विचार नहीं किया । आत्मा के व्यापारों के इन दो समूहों को अलग-अलग कर देने का फल यह हुआ है कि अध्यात्मवादियों और वैज्ञानिक लोगों में झगड़ा हो गया है और दोनों ही आत्मा की वास्तत्रिकता से इनकार कर रहे हैं । अध्यात्मवादी Metaphysicians) का आत्मा की वास्तविकता से इनकार करने का प्रत्यक्ष कारण यह है कि संवेदना sensation अनुभव feeling इच्छा रुचि तथा प्रत्यक्ष (desire and idea) उपलब्धि (perception) और प्रत्यक्षज्ञान का कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, किन्तु वे सुव्यवस्थित रचना में ही व्यक्त होते प्रतीत होते हैं । इसके अतिरिक्त अध्यात्मवादियों में सभी आन्तरिक या मानसिक बातों को वास्तविक या सत्य मान कर उन्हें कल्पित या अद्‌भुत समझने की प्रवृत्ति पाई जाती है । इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुभव और इच्छा के साथ व्यवहार करते हुए वे मन (आत्मा) को उसके दृश्य चमत्कारों से कुछ अधिक वास्तविक नहीं समझते । यदि उनको आत्मा के अनैच्छिक व्यापारों का भी परिचय होता तो वे झट ही देख लेते कि वह सत्य कुछ चीजों जो शरीर के बनाने या देह को सजीव करने जैसा स्पर्शनीय और वास्तविक दश्य चमत्कार पैदा करती है, या जो गति और गति की सह-व्यवस्था पैदा करती है, एक सत्यता से है जो चैतन्यपूर्वक अनुभव करती, जानती और संकल्प करती है ।

दूसरी तरफ वैज्ञानिक जगत् आत्मा की वास्तविकता से इसके विपरीत कारण से इनकार करने पर तुला हुआ है—अर्थात् विज्ञानियों का कहना है कि

शरीरों के व्यापारों के विषय में बाह्य चमत्कार सम्बन्धी खोजें हमने की हैं उन से हमें ज्यादा से ज्यादा आत्मा की अनैच्छिक शक्तियों का ही पता मिलता है, और यह अन्यथा हो नहीं सकता था। क्योंकि सारा भौतिक जगत् मनोविज्ञान की दृष्टि से, केवल विषयाश्रित भाव है। आत्मा ही एक ऐसी वस्तु है जो एक ही समय में विषयाश्रित और आध्यात्मिक दोनों है। अपने जड़वाद और केवल इन्द्रिय प्रमाण के भरोसे रहने की बौद्धमूल प्रवृत्ति के कारण, वैज्ञानिक लोगों ने आत्मा के केवल विषयाश्रित को ही ढूँढ़ पाया है, और फलतः वे शून्यवाद में जा ठहरे हैं जो कि आत्मा के अध्यात्मिक पक्ष से इनकार करता है। ऐन्द्रियिक द्रव्य (Organic matter) के बाहर कहीं आत्मा की अनैच्छिक प्रबृतियों को न पाकर क्योंकि वे व्यक्त न होगी, उन्होंने चैतन्य को एक स्वाधीन द्रव्य स्वीकार करने से ही इन्कार कर दिया है। चूँकि जीवन को भी अन्य शक्तियों में से एक शक्ति समझना उन्हें अधिक प्रिय और एक रूप मालूम होता है और चूंकि शक्तियों की इस सूची में चैतन्य का कोई स्थान नहीं इसलिये यह अवश्य ही नैसर्गिक शक्तियों की अतीव जटिल क्रिया का अभिव्यक्त भ्रामक परिणाम होगा। वे रसायन प्रीति युक्त प्रकृति को ही पर्याप्त समझते हैं। यदि आत्मा ऐच्छिक और अनैच्छिक व्यापारों के दोनों समूहों को एक साथ ही देख लिया जाता तो मन पर किसी प्रकार का भी अन्धकार छाया न रहता तो इस बात का ज्ञान हो जाता कि जिनको मन में अनैच्छिक व्यापार कहा जाता है उनके करने में आत्मा का व्यवहार वैसा ही होता है जैसा कि प्रकृति के भिन्न भिन्न तत्वों का। आत्मा भी अपनी सहज रसायन प्रीतियों और गति सम्बन्धी चेष्टाओं के साथ, रक्ताशय से रक्त को फेफड़ों से पवन को, और मस्तिष्क से विद्युत की नाड़ी गत लहरों को खेंचती और परे हटाती है। आत्मा का यह द्रिगुण रूप ही गौतम के प्रशस्तपाद-भाष्य के निम्नलिखित अकारण का विषय है।

आत्माधिकार

आत्मत्वाभिसन्बंधादात्मा, तस्य सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षत्वे सति करणैः शब्दद्युपल ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिस्समाधिगमः क्रियते, वास्यादीनामिव करणानां कर्तृ प्रयोज्यत्वदर्शनात्, शब्दादिषु करण प्रसिद्ध्या च प्रसाधकोऽ अनुमीयते, न शरीरेन्द्रिय मनसां चैतन्य संज्ञात्वात्। न शरीरस्य चैतन्यं घटादिवद्भूतकार्यत्वान्मृते चासम्भवात्। न इन्द्रियाणां कारणत्वा दुपहतेषु विषया सांनिध्ये चानुस्मृति दर्शनात् वापि मनसः करणान्तरानक्षित्वे युगपद लोचनानुस्मृति प्रंगात्स्वयं करणभावाच्च, परिशेष्यादात्म कार्यत्वाच्चेतनात्मा समधिगम्यते। शरीर समवायिनीभ्यां च हिताहित प्राप्तिपरिहारयोग्याभ्यां प्रवृत्ति निवृत्तिभ्यां रथकर्मणा सारथिवत्प्रयत्नवान्विग्रह-

स्याधिष्ठातानुमीयते । प्राणादिभिश्च कथं शरीर परिगृहीते वायौ विकृतकर्म दर्शनाद्भस्त्राध्यपायतेव, निमेषोन्मेषकर्मणा नियतेन दारुयत्रपयोक्तेव, देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादि निमित्तत्त्वादगृहुपतिरिव, अभिमत विषयग्राहक करण सम्बन्ध निमितेन मनः कर्मणा गृहकोणेपु पलकप्रेरकेण इव दारकः, नयनविषयालोचनान्तरं रसानु-स्मृतिप्रक्रमेण रसनविक्रिया दर्शनादने कगवाक्षान्तर्गत प्रेक्षकवदुभयदर्शी कश्चिदेको विज्ञायते । बुद्धि सुखदुःखेच्छाद्वेष प्रयत्नैश्च गुणैर्गुण्यानुमीयते । तेच न शरीरेन्द्रियगुणाः कस्मादहंकारेणैक्य वाक्यताभावात्प्रदेश वृत्तित्वाद यावद्द्रव्यभायित्वाद्बाह्येन्द्रिया प्रत्याक्षत्वाच्च । तथाहं शद्वेन पृथिव्यादि शब्दव्य तिरेकादिति तस्य गुणा बुद्धि सुखदुःखैच्छाद्वेष प्रयत्न धर्मा धर्म संस्कार संख्यापरिमाण पृथत्व संयोग विभागाः । आत्मलिंगाधिकारे बुद्धयादयः प्रयत्नान्ताः सिद्धाः, धर्माधर्मावात्मन्तरगुणानाम कारणत्व वचनात्, संस्कारः स्मृत्युत्पत्तौ कारणत्व वचनात् व्यवस्थावचनात्संख्या, पृथक्तवमप्यतएव तथाचात्मेति वचनात्मपरम महत्परिमाणम् सन्निकर्षजत्वात्सुखादीनां संयोगस्तहिनाशक्त्वाद्विभागा इति। प्रशस्तपादभाष्य आत्माधिकरणम् ।

ऊपर के वचन का स्थूल और प्रायः शाब्दिक अनुवाद यह है :—

''दूसरा पदार्थ आत्मा कहलाता है क्योंकि इसमें शरीर में स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण करने का विशेष गुण है । सूक्ष्म होने के कारण इसकी इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि नहीं हो सकती । इसलिए इसके अस्तित्व का पता आँख, कान इत्यादि साधनी भूत इन्द्रियों के सुस्वर व्यापार से लगता है, क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इन्द्रियाँ केवल साधन हैं, जिनसे काम लेने के लिए, शेष सब यंत्रों की तरह, किसी कर्त्ता या शक्ति की जरूरत है इसके अतिरिक्त, जब शब्दों, वर्ण और स्वादों आदि का स्वरूप भलीभाँति क्षेप माना गया है तो फिर ज्ञाता के अस्तित्व को स्वीकार करना भी स्वाभाविक है । यह ज्ञाता शरीर, इन्द्रियाँ[Σ] या मनस्[ΣΣ] नहीं हो सकता क्योंकि इनमें चैतनता नहीं । क्योंकि यह प्रकृति के निर्जीव, जड़ और सर्वथा अचेत तत्वों और परमाणुओं के संयोग का परिणाम है, जिस प्रकार कि घटादि सामान्य पदार्थ चेतनाशून्य हैं । इसके अतिरिक्त शरीर के चैतन्य शून्य होने का प्रमाण एक यह भी है कि यदि चेतन

[Σ] यहाँ चर्म की स्थूल इन्द्रियों से अभिप्राय नहीं प्रत्युतः आत्मा उनकी अदृश्य और सूक्ष्म इन्द्रियों या शक्तियों से अभिप्राय है जो कि इन स्थूल इन्द्रियों में रहती है।

[ΣΣ] संस्कृत तत्त्वज्ञान में मनुष्य तीन सत्ताओं का बना माना गया है अर्थात् (१) भौतिक शरीर या स्थूल शरीर, (२) सूक्ष्म शरीर या मनस् । मनस् जीवन और संवेदन सूत्रों (Sensation principles) का सकव्यहू है । पर स्थूल शरीर (३) अन्तरात्मा के बीच एक जोड़नेवाली सूक्ष्म, अतीन्द्रिय मध्यवर्ती श्रृङ्खला है यह अन्तरात्मा ही वास्तविक मनुष्य और मध्यवर्ती नौ सत्ता है ।

का कारण सचेतन शरीर ही होता तो मृत्यु के बाद यह कभी भी चेतना शून्य न हो जाता । वही इन्द्रियाँ चेतन का कारण है, क्योंकि एक तो वे साधन मात्र हैं, दूसरे यदि वे चेतना का कारण होती तो उसके नष्ट हो जाने के साथ चेतना भी अवश्य ही नष्ट हो जाती, और उनके अस्तित्व से चैतन्य का आविष्कार होता, पर ये दोनों बातें ठीक नहीं । आँख के खराब हो जाने पर रंगीन चीजों की उपलब्धि चाहे न हो सके पर बाद में फिर आ सकती है, इसलिए एक इन्द्रिय के नष्ट या बिगड़ जाने पर भी अनुस्मृति के रूप में चेतना बनी रहती है । इस प्रकार सभी इन्द्रियों के स्वस्थ होते हुए भी जब उपलब्धि के विषय उनके सम्मुख उपस्थित न कि जाँए, चेतना का अभाव हो सकता है । इसलिए इन्द्रियाँ चेतना सत्ताएँ नहीं । न ही मनस चेतना सत्ता है, क्योंकि यह भी अन्त को एक साधन है, और यदि वह आत्मा के हाथ में एक साधन न होता तो सूक्ष्म शरीर के लिए एक ही समय में और झटपट एक से अधिक संस्कारों का ज्ञान लाभ करना सम्भव होता, पर यह बात नहीं है । इसलिए अब स्थूल शरीर इन्द्रियों, और मनस (सूक्ष्म शरीर) के अलावा एक चौथी सत्ता का अस्तित्व भी स्पष्टतः प्रतिष्ठित हो गया ।''

''आत्मा के सम्बन्ध में प्रारम्भिक अनुमान इसके रथ के सारथी की तरह एक शासक सत्ता होने का है । जब सारथि अपने पट्ठों का बल लगाकर रथ को खींचने वाले घोड़ों की बागों को इधर या उधर फेरता है तो रथ सारथी की आज्ञा में होकर उसी ओर को चलने लगता है । अब हमारे शरीर की चेष्टाएँ भी जिन्हें प्रवृत्ति, अर्थात् जिसे सुखकर समझा जाता है उसमें लगाना और निवृत्ति, अर्थात् जिसे दुःखकर समझा जाता है उससे इच्छापूर्वक हटना कहते हैं । इसी प्रकार शरीर में मुड़ती हुई देखी जाती है । हमारा शरीर इस प्रकार एक रथ की तरह है, सारथी आत्मा बागों को पकड़े हुए शरीर की प्रवृत्ति और निवृत्ति को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ता है । आत्मा के विषय में हमारा दूसरा अनुमान धौकनी में से लगातार वायु को निकालते हुए लुहार का है । फेफड़ों में जाने वाला वायु रासायनिक रीति से दूषित हो जाता है, और आत्मा इसको अपने फेफड़े रूपी धौकनी से लगातार बाहर निकालता रहता है । हमारा तीसरा अनुमान आँखों की पलकों के स्वाभाविक झपकने से है । जिस प्रकार मदारी तारों को खींचकर पुतलियों को नचाता है, उसी प्रकार आत्मा के प्रयत्न से पैदा होने वाला विशेष नाड़ियों का तनाव आँखों की पलकों की चेष्टाएँ कराता रहता है । आत्मा के विषय में हमारा चौथा अनुमान एक शिल्पी (मकान बनाने वाले) का है । गृहपति शिल्पी शीघ्र ही गृह मन्दिर बना लेता है, टूटी हुई सीढ़ियों या गिरी हुई छत की मरम्मत कर देता है और अपने मैले कमरों

में सफेदी कर लेता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी शिल्पी भी अविकसित शरीर की वृद्धि करता, इसके घावों और इसके टूटे हुए या क्षतिग्रस्त अंगों की मरम्मत करता है। आत्मा के विषय में हमारा पाँचवां अनुमान एक बालक का है जो कि छड़ी के साथ एक मकड़ी को एक कोने से दूसरे कोने में दौड़ाता फिराता है। इसी प्रकार आत्मा सूक्ष्म शरीर (मन) को, बालक के से कौतुक के साथ, शरीर के एक कोने की इन्द्रिय से दूसरे कोने में फिराता है। हमारा छठाँ अनुमान एक दर्शक का है जो कि एक गोल कमरे के बीच में खड़ा है। कमरे में चारों और खिड़कियाँ है इसलिये वह, अपने उच्चस्थान से प्रत्येक दिशा में होनेवाली घटनाओं को, यथार्थ खिड़कियों में से शान्तिपूर्वक देख सकता है। नेत्रों के सामने एक फल रखा जाता है। वे उसका रंग ही देख पाते हैं। लेकिन इसका स्वाद झट स्मरण हो जाता है और माधुर्य की प्रचुरता से जिह्वा से थूक निकलने लगता है। इसके अतिरिक्त हम सुख, दुःख इच्छा द्वेष, प्रयत्न और बुद्धि आदि गुणों से एक वस्तु के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। ये गुण शरीर या इन्द्रियों के नहीं। क्योंकि अहंकार अपना ऐक्य भाव इन गुणों के साथ बताता है, शरीर या इन्द्रियों के साथ नहीं। मैं अनुभव करता हूँ मैं इच्छा करता हूँ चैतन्य की सच्ची कैफियतें हैं, परन्तु यह नहीं कि शरीर या इन्द्रियाँ अनुभव करती, या इच्छा करती या चेतन हैं।

यह गुण उस द्रव्य को बतलाते हैं जिसमें कि यह रहते हैं यह किसी किसी या प्रत्येक वस्तु में नहीं पाये जाते और बाहर की इन्द्रियाँ इन्हें जान नहीं सकतीं, इसलिए ये एक तीसरी चीज अर्थात् आत्मा के गुण हैं। आत्मा के गुण ये हैं—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्माधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग। पहले छः गुणों का ऊपर जिक्र हो चुका है। धर्माधर्म आत्मा के गुण है क्योंकि वह एक जिम्मेदार कारक है। आत्मा के संस्कार ग्रहण के योग्य भी है क्योंकि केवल यही संस्कार ही स्मृति का कारण हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अहंकार दूसरे व्यक्तियों से भिन्न उपभोगों का परिचय रखता है, और दूसरे व्यक्ति के अनुभवों और अवस्थाओं को अपनी चेतना के सामने उपस्थित करने में असमर्थ है, इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रत्येक आत्मा की एक पृथक सत्ता है और इसमें संख्या का गुण है। शरीर में स्वतन्त्रतापूर्वक विचारने से उसमें परिमाण का होना सिद्ध है। सुख और दुःख सब सूक्ष्म शरीर (मन) में उत्पन्न होता है। आत्मा को उनका ज्ञान केवल मन के साथ उसके सम्पर्क के कारण होता है और इसी मन के द्वारा वह अनुभव के विषय को जानता है। इससे इसमें संयोग और वियोग के गुणों का होना पाया गया है।

उपर्युक्त वचन की व्याख्या सुनिए

पहले इसमें आत्मा को एक सूक्ष्म सत्ता दिखलाया गया है जो कि इन्द्रिय ग्राह्य नहीं। इस मत के विरुद्ध एक पक्षपात पाया जाता है। आगे चलने के पूर्व उसे साफ कर देना आवश्यक है। पक्षपात यह है कि जो कुछ अदृश्य, अतीन्द्रिय, या सूक्ष्म हो उसे न मानना। यह पक्षपात या तो बहुत ज्यादा उथले अनुभव के कारण से, या सर्वथा भौतिक या प्राकृतिक व्यापारों और केवल परीक्षा मूलक या निरुपपक्ति विद्याओं के साथ एक मात्र गाढ़नुराग रखने कारण पैदा होता है, क्योंकि इनमें अवलोकन की शक्तियों का ही निरन्तर प्रयोजन रहता है, चिन्ता कल्पना या प्रत्याहार का पहले तो काम ही नहीं पड़ता, और फिर यदि कभी पड़ता भी है तो बहुत कम। इन्हीं विद्याओं के दृश्य-चमत्कारों के साथ गहरा परिचय प्राप्त हो जाने पर यह बात प्रमाणित हो जायेगी कि इन दृश्य चमत्कारों के प्रकृत कारण फलतः वास्तविक सत्तायें सदा गुप्त अदृश्य और अगोचर रहती हैं। उदाहरणार्थ गुरुत्वाकर्षण को ही लीजिए। ब्रह्माण्ड में प्रकृति का प्रत्येक कण एक दूसरे को आकृष्ट करता है। उनके आकर्षण की शक्ति उनके पिण्डों के घात के प्रमाण से और उनकी दूरियों के वर्ग के विपर्यस्त प्रमाण से होती है। शक्ति का नाम वैज्ञानिक लोग गुरुत्वाकर्षण रखते हैं। इस अकेले नियम के कार्य या इस अकेली शक्ति को क्रिया से पैदा होने वाले प्रत्यक्ष कार्यों की अनंतता को देखिए। छोटे से छोटे अणु से लेकर बड़े से बड़े सूर्य तक प्रत्येक चीज इस विषय के अधीन है। गुरुत्वाकर्षण जगत् सम्बन्धी गतियों के सभी दृश्य-चमत्कारों का ग्रहों के अपने पथों पर घूमने, उपग्रहों के ग्रहों के गिर्द चक्कर काटने, ऋतुओं के परिवर्तन, धूम केतुओं के उड़ने, उल्काओं के गिरने, ज्वार भाटे और ग्रहणों का जन्मदाता है ? इसके नानारूप कार्यों के प्रत्यक्ष होते हुए भी क्या खुद गुरुत्वाकर्षण प्रत्यक्ष है, या क्या वह एक सूक्ष्म अदृश्य, परन्तु वास्तविक शक्ति है जो कि प्रकृति में विद्यमान है और अपने दृश्य प्रत्यक्ष अद्भुत कार्यों से अपने आप को प्रकट करती है। हाँ एक और बिजली का उदाहरण लीजिए। सर्वव्यापक वस्तु क्या है ? प्रकृति का कोई भी कण, ऐसा नहीं जिसमें यह न हो, रगड़ द्वारा उत्तेजनीय होते हुए यह प्रत्येक भौतिक शरीर के भीतर गुप्त और अदृश्य रूप से रहती है। तार-समाचार भेजते समय जब विद्युत द्वारा तारों में से गुजरती है तो यह अकस्मात् ही सारा मार्ग तय कर लेती है, तारों पर इसका कोई स्थूल और दृश्य कार्य शेष नहीं रह जाता, परन्तु वही अदृश्य, गुप्त तत्व पहुँचने के स्थान में घण्टी के बजने, चुम्बक की तेज खटखटाहट, डायल के हिलने या स्याही या पैंसिल के हचकोले से अपने आपको प्रकट करता है। चुम्बक शक्ति का व्यापार इससे

भी अधिक दुर्बोध है। घोड़े की नाल की शकल का लोहे का एक भारी पिण्ड, जिस पर लाख (Shellao) से मढ़ी हुई ताँबे की तार की एक लम्बी कुण्डली चढ़ी हुई है, पड़ा है, उनके समीप ही लोहे की चीजों, सुइयों और हथौड़े आदि का एक बड़ा ढेर लगा है। अभी चुम्बकीय शक्ति का जादू काम नहीं करने लगा। झट एक प्रबल बैटरी से बिजली की एक धारा कुण्डली में भेजी जाती है और निचेष्ट, निर्जीव, नाल एक अद्‌भुत शक्ति पाकर जी उठती है। यह बड़े बल से कीलों हथौड़ों, सुईयों, और अपने आस-पास की प्रत्येक लोहे की वस्तु को आकृष्ट करने लगती है। यद्यपि यह दिखाई नहीं देता, परन्तु अब यह चुम्बकीय शक्ति का क्रीड़ा-स्थल है। यह शक्ति अपने कार्यों और अभिव्यक्तियों में इतनी प्रबल होने पर भी, स्वयं सूक्ष्म और अदृश्य है। इसलिए यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के प्रकृत कारण गुप्त, अदृश्य और अतीन्द्रिय हैं। उनके कार्य अर्थात् उनके उत्पन्न किये हुए दृश्य चमत्कार ही दृश्य और इन्द्रियगोचर हैं। ऐसी अवस्था में तर्क का प्रधान हेत्वाभास यह है कि क्रिया के दृश्य और आसन्न साधनों को कारण समझ लिया जाता है, जबकि प्रकृति कारण गुप्त, परन्तु वास्तविक और सनातन है। यदि जीवन युक्त ऐन्द्रियित जीव-जन्तुओं द्वारा, और सबसे बढ़ कर मनुष्य द्वारा प्रकटित प्राण 'भूत दृश्य-चमत्कारों की नींव में कोई कारण है, तो उस कारण का गुप्त, अदृश्य और अतीन्द्रिय और फलतः सनातन होना परमावश्यक है। इसलिए आत्मा का सूक्ष्म, अदृश्य स्वरूप उसके अस्तित्व का समर्थक प्रमाण और आवश्यक अनुमान है।

इसलिए विषयाश्रित रीति से देखने पर आत्मा केवल अनुमान का ही विषय हो सकता है। अब प्रत्येक अनुमान में पहले दो बातें मान ली जाती हैं, एक तो वह जिसके अस्तित्व का अनुमान करना है, और दूसरे निश्चित स्वीकृति तत्व जिनसे उस अस्तित्व का अनुमान होता है। अमुमान की बड़ी समस्या वस्तुतः इस बात का निश्चय करने में है कि ऐसे अनुमान के लिए कौन सा सादृश्य पर्याप्त और कौन सा अपर्याप्त समझा जाए। ज्ञात स्वीकृत तत्व जिनसे अज्ञात वस्तु का अनुमान होता है संस्कृत तर्क में लिंग, और जिस वस्तु का अनुमान किया जाता है वह अनुमेय कहलाती है। अनुमान के इस प्रश्न के विषय में तार्किक काश्यप कहता है :—

अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ।।

अर्थात् अनुमान के लिए वही लिंग समर्थनीय है जिसका किसी समय या किसी स्थान में अनुमेय का सहवर्ती होना मालूम हो, दूसरे यह भी ज्ञात हो कि वह वहाँ विद्यमान है जहाँ कि अनुमेय वस्तु के सदृश वस्तु वर्तमान है,

और तीसरे वह वहाँ नहीं जहाँ कि अनुमेय के सदृश वस्तु है" । अच्छा हम साकार उदाहरण लेते हैं । बैरोमीटर की नली में पारे के गिरने से हम वायु के दबाव के कम हो जाने का अनुमान करते हैं । अब देखना चाहिए कि ऐसा अनुमान समर्थनीय हो सकता है या नहीं । पारे का नीचे उतर आना ज्ञात है, पर दबाव की कमी ज्ञात नहीं । परन्तु हमें एक विशेष प्रयोग (अर्थात् एक विशेष स्थान और समय पर किये हुए प्रयोग) से मालूम है कि दबाव के घटने से बैरोमीटर का पारा नीचे गिर जाता है । यह पहली शर्त पूरी हुई । दूसरे दबाव के घटने की वैसी ही अवस्थाओं में, चाहे उनका कारण कुछ भी क्यों न हो, बैरोमीटर सदा नीचे उतर आता है, परन्तु तीसरी शर्त पूरी नहीं हुई । यह बात सत्य नहीं कि जहाँ बैरोमीटर का पारा नहीं गिरता वहाँ दबाव में कोई कमी नहीं होती क्योंकि दबाव के घट जाने पर भी हो सकता है कि बैरोमीटर न गिरे । ताप के बढ़ जाने से पारा फैल कर हल्का हो गया । यदि वही दबाव बना रहता तो पारा बहुत ऊपर चढ़ जाता, परन्तु दबाव के घट जाने से पारे के बढ़ने को रोक दिया और देखने में पारा वहीं ही रहा जहाँ कि वह पहले था । इसलिए काश्यप की तीन शर्ते सुनिश्चित सिद्ध करती है कि बैरोमीटर का उतरना दबाव के घटने का लिंग नहीं । इसी प्रकार के वितर्क से यह प्रमाणित हो जाएगा कि पारे के उपस्थित स्तम्भ के भार का घट जाना दबाव के घट जाने का लिंग (अनुमान) है ।

सामान्यतः यह दिखला देने के पश्चात् कि अनुमान के आधार के लिए कौन-कौन से लिंग योग्य हैं अब यह देखना बाकी है कि आत्मा के अस्तित्व के अनुमान के लिए कौन से दृश्य चमत्कार आधार का काम दे सकते हैं । इन दृश्य-चमत्कारों का आत्मा के साथ कोई नियत सम्बन्ध होना आवश्यक है, साथ ही यह भी आवश्यक है कि कुछ अवस्थाओं में जहाँ आत्मा के आवश्यक गुण पाये जाते हों वहाँ इनका उपस्थित होना भी ज्ञात हो । और जहाँ ये न मिलें वहाँ कोई आत्मा भी न हो । ये दृश्य-चमत्कार दो प्रकार के हैं, एक तो शारीरिक इन्द्रियों का व्यापार और चेष्टा, और दूसरे वे संवेदनाएँ जिनका मनुष्य को प्रत्यक्ष ज्ञान है । इसलिए इन दो प्रकार के दृश्य-चमत्कारों से ही आत्मा के अस्तित्व का अनुमान विषयाश्रित रीति से हो सकता है । चेतन आत्मा का एक विशेष गुण है, इसलिए केवल यही मालूम नहीं कि शारीरिक इन्द्रियों की कुछ चेष्टायें चेतन आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होती है, प्रत्युत कई ऐसे भी व्यापार ज्ञात हैं जो प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होते परन्तु जहाँ कहीं भी चेतन है वहाँ वे अवश्य देखे जाते हैं, और सभी जीवनयुक्त शरीर मृत्यु के पश्चात, या जीवन शून्य वस्तुओं की रचनाएँ उन व्यापारों से शून्य होती हैं । यही अवस्था सम्वेदनाओं की है ।

इन दृश्य-चमत्कारों का सविस्तार वर्णन करने के पहले उस वाद की पड़ताल कर लेना उपयोगी होगा जो कि आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के विरुद्ध उपस्थित किया जाता है, और जो प्रतिभाहीन जिज्ञासुओं के लिए इस विषय को ठीक तौर पर समझने में एक बड़ा बाधक हो रहा है, वह वाद स्वाभाविक सृष्टिवाद (Mechanical) है। हम दिखायेंगे कि यह वाद चेतना का कहाँ तक समाधान कर सकता है।

आत्मा को छोड़कर, मनुष्य, शरीर, इन्द्रिय और मन, इन तीन पदार्थों का बना है। शरीर जिसका लक्षण महामुनि गौतम अपने न्यायदर्शन में 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्'' (१, ११) करते हैं, उसमें स्थापित स्थूल इन्द्रियों सहित देह का ठोस ढाँचा है। यह सारी चेष्टाओं की भित्ति, सारी इन्द्रियों और उनकी सम्वेदनाओं का स्थान है। इन्द्रियाँ पाँच सूक्ष्म सत्तायें हैं। ये पाँच स्थूल ज्ञानेन्द्रियों में यथाक्रम स्थापित, पर उन से विभिन्न है। इन में से प्रत्येक के द्वारा आत्मा पाँच सम्वेदनाओं, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द में से प्रत्येक की नियत और विभिन्न चेतना लाभ करता है। आत्मा की उपलब्धि के लिए इन्द्रियाँ सम्वेदना के अदृश्य, आन्तरिक माध्यम हैं। उनके बाहर की स्थूल इन्द्रियों में से स्वतन्त्रत होने पर इसे नष्ट नहीं होना चाहिए। क्योंकि अनेक बार देखा गया है कि कान का सुनने का परदा (Fympanic membrane) मोगरी (hanner) और अहिरम (anvil) नष्ट हो गये हैं पर सुनने की शक्ति वैसी बनी हुई है। और यही अवस्था दूसरी इन्द्रियों की है। वास्तव में इन्द्रियों का स्थूल दृश्य इन्द्रियों से स्वतन्त्र होना किसी प्रकार हमारे अनुभव का निषेधक नहीं, प्रत्युत मानव अनुभव इसका ऐसी अच्छी तरह से समर्थन करता है कि सच्चे तर्क को इसमें कभी भी सन्देह नहीं होता। क्योंकि शारीरिक विश्राम के समय में जबकि शरीर के अंग प्रत्यंग नवीन और नया बल प्रत्युत्पन्न और संग्रह कर रहे होते हैं और जबकि बाह्य संस्कारों के लिए इन्द्रियाँ बन्द होती हैं, मन सब बाधक और क्षोभजनक प्रभावों से रहित होकर, भिन्न-भिन्न स्थानों में कल्पनात्मक पर्यटन करता है और चिन्ता से भिन्न-भिन्न वस्तुओं को उत्पन्न कर लेता है। वह कल्पना करता है, वह देखता है, वह सुनता है। कभी-कभी अपनी यात्रा में वह किसी मधुर गान से, या नाना प्रकार के मनोहर दृश्यों पर, जिनका कि वह आनन्द लूटता हुआ प्रतीत होता है मुग्ध होकर ठहर जाता है। कई बार यह कल्पना करता है कि मैं चल रहा हूँ, अनुभव करता हूँ, चखता हूँ या असह्य पीड़ा से व्यथित हो रहा हूँ। यह भी प्रतीत होता है कि वह अनेक ऐसी बातों पर आग्रह कर रहा है जिन पर आग्रह करने की उसकी पहले कोई इच्छा या कामना न थी। इन सारे देशाटनों में शब्द के तरंग प्रकाश के परावर्तन, स्पर्श

की ग्रहण शीलता और चखने के आनन्द का उपभोग करने की कल्पना कर ली जाती है। यह सिद्ध करता है कि संवेदना का एक आन्तरिक माध्यम है जिसके द्वारा मन अपनी वृत्ति का उपभोग करता है, मानो बाह्य जगत् के साथ इसका सम्बन्ध हो। इससे यह भी सिद्ध होता है कि संवेदना की इन नाड़ियों के ऊपर एक माध्यम है जो कि आन्तरिक और बाह्य दोनों विद्यामान कारणों से स्वतन्त्र हैं।[६] संवेदना का यह माध्यम इन्द्रिय है। और अन्ततः मन आत्मा से भिन्न एक तीसरी सत्ता है। गौतम अपने न्याय दर्शन में कहते हैं **''युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्''** ११।१६॥ अर्थात् मन का अस्तित्व इससे सिद्ध है कि मनुष्य एक समय में एक ही बात पर ध्यान दे सकता है। कहते हैं कि एक बार एक यूनानी तत्ववेत्ता गणित का कोई प्रश्न हल करने में लगा हुआ था, उसके पास से एक सेना गुजर गई पर उसे इसकी खबर भी न हुई। अन्त को जब एक सिपाही ने उस दार्शनिक के पृथ्वी पर बनाए हुए चक्र को मिटा दिया तब कहीं उसका ध्यान भंग हुआ। तत्पश्चात् क्या हुआ यह इतिहास से पूछिए। क्या उस सेना की गति सर्वथा निःशब्द थी ? क्या जिस समय वह तत्वज्ञानी प्रश्न हल कर रहा था उस समय कोई शब्द तरंग नहीं पैदा होते थे ? क्या तरंग उसके कान के गढ़ें में घुसे, और क्या उन्होंने सुनने के परदे को, कान के भीतरी टेढ़े मेढ़े स्थान में बड़ी सूक्ष्म रीति से रक्खी हुई हड्डी (Stapes) और कण पूर्ण रस को, वस्तुतः नाड़ियों पर संवेदना के अदृश्य माध्यम अर्थात् इन्द्रियों को कम्पायमान नहीं किया ? यह सब कुछ हुआ अवश्य, पर तत्वज्ञानी का इस ओर ध्यान न था। तत्वज्ञानी में कुछ वस्तु ऐसी थी जिसको सोचते समय, प्रश्न को हल करते समय भीतरी कान के साथ सम्बन्ध न था। कुछ वस्तु जिसका जब एक इन्द्रिय से संसर्ग होता है तो उसी समय अन्य इन्द्रियों से संसर्ग टूट जाता है। इन्द्रियों के साथ, अतः स्थूल इन्द्रिय-गोलक के साथ इसके संसर्ग को ही हम ध्यान या मनोयोग कहते हैं। इससे इसका वियोग सम्बन्ध के सूत्रों को काट देना है और इसका जो परिणाम होता है उसे हम अन्यमनस्कता कहते हैं। न ही यह मनस चेतन सत्ता है, क्योंकि कौन नहीं जानता कि वे सारे प्रत्यक्ष (Idea) जो हमारे अनुभव ने हमारे लिए प्राप्त किये हैं अधिक काल तक गुप्त लिपिबद्ध अवस्था में मस्तिष्क में या अधिक शुद्ध रीति से कहें तो, मनस् में पड़े रहते हैं परन्तु उनमें से कोई एक केवल उसी समय स्मरण आता है जब कि उसे पुनः बुलाया जाता है।

हमने देख लिया कि शरीर, इन्द्रिय और मनस् क्या पदार्थ हैं। अब

[६] Principles of nature, by Andrew Jackson avis.

हम परीक्षा करेंगे कि क्या इनमें से कोई एक चेतन है । क्योंकि यदि आत्मा को छोड़कर, मनुष्य शरीर, इन्द्रिय और मनस् इन तीन पदार्थों का बना है और यदि इनमें से प्रत्येक चेतना शून्य या चेतना का विकास करने के अयोग्य प्रमाणित हो जाय, तो फिर चौथी वस्तु आत्मा के चेतन सत्ता होने में कोई सन्देह न रह जायगा । पहले, शरीर चेतन सत्ता नहीं क्योंकि यह प्रकृति के जीवन शून्य निश्चेष्ट और सर्वथा अचेतन तत्वों और अणुओं के मिश्रण का फल है और वे सारे पिण्ड जो ऐसे कणों के मिश्रण से बने हैं स्वयं भी जीवनशून्य और अचेतन है । जड़ रासायनिक मिश्रणों का सारा जगत् जिसमें घड़ियाँ, स्टीम इञ्जन इत्यादि सभी आ जाते हैं, इस नियम का दृष्टान्त है । ऐन्द्रियिक मिश्रण भी इस नियम से बाहर नहीं । जब तक ऐन्द्रियिक पदार्थ का एक जीवन युक्त बीज के साथ मेल है, तब तक उनकी अभिव्यक्तियाँ बहुत कुछ परिवर्तित और विकृत रहती हैं, पर जीवन दाता सूत्र के चले जाने पर ; ऐन्द्रियिक रचना भी जीवन शक्ति और चेतना के चिह्न दिखलाने में असमर्थ हो जाती है । इसको कुछ और स्पष्ट करते हैं । मान लीजिए कि शरीर चेतन है । अब हमें पता लगाना चाहिए कि यह चेतना उसमें स्वाभाविक है या नैमित्तिक । यदि स्वाभाविक है तो शरीर को मृत्यु के उपरान्त भी चेतन होना चाहिए, पर यह बात नहीं । यदि यह नैमित्तिक है, तो इसका अर्थ यह है कि चेतना के लिए हमें शरीर के अतिरिक्त किसी और वस्तु की तलाश करनी चाहिए । न ही इन्द्रियाँ चेतन सत्ताएँ हैं, क्योंकि, वे तो केवल साधन हैं जिससे काम लेने के लिए एक कर्मकारक की आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त यह बात नहीं कि जहाँ इन्द्रियाँ विद्यमान हों वहाँ चेतना भी अवश्य होती है, जैसा कि अन्यमनस्कता की अवस्था में होता है । न ही उनके नष्ट हो जाने से चेतना नष्ट हो जाती है, क्योंकि आँख के खराब हो जाने, बल्कि गोलक से सर्वथा निकाल दिये जाने पर भी चेतना में रंगीन वस्तुओं की स्मृति हो जाती है । वही मनस् चेतन सत्ता है, क्योंकि वह चेतन होता तो इसे प्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक संस्कार का ज्ञान होता, और हमें एक ही समय में दो संस्कारों को पहचानने की अक्षमता आदि रुकावटें न देखनी पड़ती ।

मनुष्य की अपनी चेतना पर थोड़ी देर के लिये गम्भीरता पूर्वक विचार करने से प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के शरीर, इसकी इन्द्रियों, व्यापारों, विकारों, प्रत्युत संवेदनाओं से भी पृथकत्व का विश्वास हो जायगा । उपर्युक्त सारे तर्क का मूलाधार दो महान् व्यापक नियम है । पहला नियम जो बड़ा प्रसिद्ध है । वह यह है कि अभाव से भाव उत्पन्न नहीं हो सकता । इसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ।।*

अर्थात् "अभाव से भाव, और भाव से अभाव कभी नहीं हो सकता।" बुद्धिमानों ने इन दोनों प्रतिज्ञाओं की सच्चाई की पूरी-२ जांच की है। स्वार्थी, अल्पविद्यायुक्त, इन्द्रियाराम, पापासक्त इसको सुगमता से नहीं जान सकते।+ सारे निर्दोष तत्वज्ञान का यही प्रधान नियम है। सृष्टि सर्वथा असम्भव है। प्रकृति के नियम केवल रचना को प्रकट करते हैं। आओ, एक घड़ी के लिये यह मान लें कि सृष्टि का होना सम्भव है, और अभाव से भाव की उत्पत्ति हो सकती है। यह कल्पना ही इस बात को मान लेती है कि कोई अभाव है जो भाव को उत्पन्न कर सकता है। इसलिए दो प्रकार के अभाव सिद्ध हुए, एक तो साधारण अभाव जिससे कोई वस्तु पैदा नहीं होती, और दूसरा यह विशेष अभाव जिससे भाव की उत्पत्ति होती है। अब जिसके अनेक प्रकार हैं वह अभाव नहीं भाव है। इसलिये यह अभाव जो दो प्रकार का है भाव के सिवा और कोई पदार्थ नहीं। अथवा, भाव से उत्पन्न हो सकता है। इसके उलट की कल्पना सर्वथा असम्भव है। दूसरा नियम वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार बताया गया है—

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ++

अर्थात् कार्य में केवल वही गुण पाये जाते हैं जो उनके कारण में पहले से विद्यमान थे। कोई नया गुण पैदा नहीं हो सकता। यदि इन दोनों नियमों को भली भाँति समझ कर स्मरण रखा जाय तो मनुष्य तर्काभास के आक्रमणों से सर्वथा सुरक्षित रहेगा। परन्तु हमारे आधुनिक काल के जड़वादी, जो ब्रह्माण्ड के दृश्य-चमत्कारों की कैफियत के लिये स्वाभाविक सृष्टिवाद को ही पर्याप्त समझते हैं, इन दोनों नियमों को भुला देने तक ही सन्तुष्ट नहीं, प्रत्युत वे मानव मन की इन सहज कल्पनाओं का खुल्लम खुल्ला और सविस्तार निषेध करते हैं। चार्ल्स ब्रेडला कहता है कि "धर्मों वाले यह समझते हैं कि वे पहेलियाँ धड़कर इस कठिनता को टाल रहे हैं या हमारी ओर भेज रहे हैं। वे शरीर को तोड़ फोड़ कर, और जिनको वे मूल पदार्थ कहते हैं उनकी एक सूची बनाकर पूछते हैं—क्या आक्सीजन में विचार करने की शक्ति है ? क्या कार्बन सोच सकता है। क्या नाइट्रोजन सोच सकता है ? अब जब इस प्रकार उनकी सारी सूची समाप्त हो जाती है तो फिर वे कहते हैं कि क्योंकि इनमें से

---

* भगवद्गीता २, १६।
\+ स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २२२, तीसरा संस्करण।
\++ वैशेषिक सूत्र २, १, २४।

कोई एक भी अपने आप नहीं सोच सकता, इसलिये विचार प्रकृति का परिणाम नहीं प्रत्युत आत्मा का गुण है। इस सारे वितर्क का अधिक से अधिक केवल यहीं सारांश है कि हम जानते हैं कि शरीर क्या वस्तु है, परन्तु हमें आत्मा के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं, क्योंकि हम यह नहीं समझ सकते कि शरीर, जिसे कि हम जानते हैं कि किस प्रकार सोच सकता है, इसलिये हम कहते हैं कि आत्मा ही, जिसको कि हम नहीं जानते, सोचने का काम करता है। आत्मा के पक्ष में धर्मवालों के इस वितर्क में एक और बड़ा दोष है क्योंकि यह, अनुभव के विपरीत, इस बात को मान लेता है किसी समवाय में कोई ऐसा गुण या परिणाम नहीं पाया जा सकता, जो कि उस समवाय को बनाने वाले किसी एक या सभी परमाणुओं, अंगों, रीतियों या तत्वों में भी नहीं मिलता। पर यह बड़ी ही वाहियात बात है। चीनी का स्वाद मीठा होता है परन्तु न ही कार्बन, न ही आक्सीजन, और न ही हाइड्रोजन अलग अलग चखने पर मीठे प्रतीत होते हैं, फिर भी आप कार्बन, आक्सीजन और हाइड्रोजन के एक नियत समवाय का नाम चीनी ही रखते हैं। मेरा पक्ष यह है कि मानवीय, प्राणभूत और मानसिक दृश्य चमत्कारों के सम्बन्ध में 'भूत' 'प्रेत' 'चुड़ैल' 'जिन्न' 'देवता' आदि शब्दों की हुआ करती थी।"X

क्या यह निर्दोष तर्क है क्या चार्लस ब्रेडला यह समझता है कि यदि आत्मा सम्बन्धी यह प्रतिज्ञा चेतना के दृश्य चमत्कारों की कैफियत नहीं दे सकती तो क्या उसके भौतिक परमाणु दे सकते हैं ? उसका वह यह उत्तर देता है—

विचार-क्षमता प्राणि-रचना की क्षमता के रूप में ही मिलती है, इसके सिवा वह कभी नहीं दिखाई देती, और यह क्षमता उच्चकोटि के प्राणी में उच्च और नीच कोटि के प्राणी में नीच होती है।........आत्मा के कट्टर पक्षपाती दावा करते हैं कि जिसे वह आत्मा कहते हैं वह मनुष्य का नाश हो जाने पर भी जीती रहेगी, परन्तु वे इस बात की कैफियत नहीं देते कि वह पूर्व भी विद्यमान थी+ यहाँ चार्ल्स ब्रेडला ईसाई धर्म के विषय में कह रहा है, क्योंकि वैदिक तत्वज्ञान तो अनादित्व का प्रतिपादन करता है, जिससे जीवात्माओं को पहले से होना माना जाता है। आगे चलकर वह कहता है कि आस्तिक लोग दावा करते हैं कि जिसको वे मूल पदार्थ कहते हैं उनमें से पृथक पृथक तौर पर कोई भी पदार्थ विचार नहीं कर सकता, इसलिये मनुष्य आत्मा के बिना सोच नहीं सकता, क्योंकि मनुष्य सोचता है इसलिये उसमें आत्मा है। यह

X Charles Bradlaugh "Has Man a Soul ?" P. 4-5
+ Charles Bradlaugh "Has Man a Soul ?" P.5

युक्ति, यदि कुछ दृढ़ हो भी तो बहुत दूर तक नहीं पहुँचती है। मछली सोचती है, झींगा सोचता है, चुहिया सोचती है, कुत्ता सोचता है और घोड़ा सोचता है; इससे इस सब में अविनाशी आत्मायें होनी चाहिये।+ निसन्देह इनमें आत्मायें हैं। परन्तु डरपोक ईसाई इसे स्वीकार करने से डरते हैं। इसीलिये चार्ल्स ब्रेडला का धार्मिक आक्षेप कट्टर ईसाईयों के लिये है। उसकी युक्तियाँ वैदिक सिद्धान्तों का खण्डन करने के स्थान में उनका मंडन करती हैं। परन्तु अब हम ब्रेडला के पहले वचन को लेते हैं। यह बात प्रत्यक्ष है कि हम इस बात की कोई कैफियत नहीं दे सकते कि शरीर कैसे सोचता है और जबतक अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती का सिद्धान्त सत्य और इसका विपर्यय सर्वथा कल्पनातीत है तब तक कोई भी मनुष्य इस बात को न समझ सकेगा कि शरीर कैसे सोचता है। तो फिर इसका अनिवार्य परिणाम क्या निकला? स्पष्टतया परिणाम यही है कि यदि बुद्धि को चेतना के अस्तित्व की कैफियत देनी हो तो इसका सम्बन्ध शरीर या शरीर को बनाने वाले तत्वों के साथ न दिखाकर, इसका कारण किसी और पदार्थ में ढूँढ़ना चाहिये। इस पदार्थ का नाम, जिसके विषय में इससे बढ़कर और कुछ नहीं कहा गया कि वह शरीर नहीं, और वह सोचने का कारण है, सुगमता से जीवात्मा या अंग्रेजी भाषा में खोलकर देखा जा सकता है। तब इतना कह देने में क्या हानि है कि "सोचने वाला जीवात्मा (जिसके विषय में हम जो कुछ पहले कह आये हैं उससे अधिक और कुछ नहीं कहते) ही है" परन्तु फिर भी ब्रेडला इसमें दोष देखता है। आगे चलकर वह पूर्वोलिखित दोनों नियमों का ही निषेध करता है, और कहता है कि यह प्रतिज्ञा कि किसी समवाय में कोई ऐसा गुण या कार्य नहीं हो सकता जो कि उसको बनानेवाले तत्वों में विद्यमान न हो "बड़ी ही वाहियात" है। वह चीनी का दृष्टान्त देकर कहता है कि चीनी के मूल पदार्थों के न मीठा होने पर भी वह मीठी होती है। क्या यह उथला तर्क नहीं? क्या किसी ने कभी स्वप्न में चीनी का स्वाद नहीं चखा? पर वहाँ न कोई चीनी है, और न कार्बन हाइड्रोजन और आक्सीजन का कोई नियत समवाय। मीठा स्वाद चीनी में नहीं क्योंकि यदि वह होता तो कोई भी व्यक्ति मिठास को चखने का स्वप्न न देख सकता, इसलिये इसके चीनी को जताने वाले कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन नामक मूल पदार्थों में होने का प्रयोजन नहीं। मिठास का कारण एक विशेष नाड़ी का एक नियत आन्दोलन है, और कार्बन, आक्सीजन, और हाइड्रोजन का निर्दिष्ट समवाय जिसे चीनी कहा जाता है, जीभ की थूक में द्रवीकरण (Dissolution) की रसायन सम्बन्धी विद्युत शक्ति (Chemical-

---

+ Ibid P. 5

electrical energy) के द्वारा उस शक्ति की एक नियत राशि को केवल प्रकट करने का काम देना है जो कि विशेष नाड़ी आन्दोलित करती है, इसी कारण से मिठास का स्वाद आता है। स्वप्न में यह आन्दोलन बाह्य साधनों द्वारा नहीं प्रत्युत भीतरी साधनों द्वारा होता है। इसलिए चीनी का दृष्टान्त हमारा खण्डन नहीं प्रत्युत हमारा मण्डन ही करता है।

परन्तु ऐसे भी जड़वादी हैं जो चार्लस ब्रेडला से अधिक चतुर हैं। वे दर्शनशास्त्र के उपर्युक्त दो महान् नियमों से इन्कार करने के स्थान उनको अपना आधार बनाते हैं और स्वाभाविक सृष्टिवाद को उसकी सहज अक्षमता से बचाने के लिये चेतना रूपी सत्य घटना की कैफियत देते हुए "गुप्त" शब्द ला घुसेड़ते हैं। पर इससे उनका पक्ष कुछ अधिक प्रबल नहीं हो जाता, क्योंकि हम दिखलायेंगे कि वे भारी-हेत्वाभास का शिकार हो रहे हैं। वे इस प्रकार युक्ति देते हैं—यह ठीक है कि समवाय की क्रिया में कोई नवीन गुण या परिणाम उत्पन्न नहीं होते परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि समवाय या रचना की क्रिया उस वस्तु को बाहर निकाल कर प्रकट कर देती है जो कि पहले गुप्त थी। उदाहरणार्थ बारूद, गरम हो जाने पर, भक से उड़ जाने की शक्ति रखता है। भक से उड़ जाने की शक्ति बारूद में पहले से ही गुप्त है, आग लगाने की क्रिया केवल उस गुप्त को प्रकट कर देती है। इसको कुछ और स्पष्ट किये देते हैं। सभी लोग यह जानते हैं कि जब लकड़ी या कोयले को आक्सीजन की विद्यमानता में गरम किया जाय तो वह जलने लगता है। यह भी बड़ी प्रसिद्ध बात है कि रगड़ और टक्कर से गरमी उत्पन्न होती है। यह भी सभी को ज्ञात है कि यदि किसी स्थान में उतनी हवा (गैस) भर दी जाय जितनी कि साधारण दबाब के नीचे उसमें समा नहीं सकती, तो यह फैलेगी और जो भी चीज इसके फैलने में बाधा देगी उसे यह धकेल देगी। सोडावाटर की बोतलों में से डाट (कार्क) का धकेले जाना इसी का एक सुपरिचित दृष्टान्त है। और अन्ततः यह भी प्रत्येक मनुष्य जानता है कि ताप से हवाएँ फैलती हैं और कि कोई वस्तु ठोस अवस्था में जितना स्थान घेरती है उससे कई गुणा अधिक वह वाष्पावस्था में घेरती है। ये सब सुपरिचित और परम प्रसिद्ध सच्चाइयाँ हैं, फिर भी बारूद का बनाना कोई आसान बात नहीं। क्यों नहीं ? क्योंकि क्रमशः और स्वाभाविक रीति से अभिमत परिणाम पैदा करने के लिए हमें वस्तुओं और शक्तियों की एक व्यवस्था का प्रयोजन है। हमें भक से उड़ाने की आवश्यकता है। अब भक से उड़ाने का मतलब है गोली का धकेलना, इसलिए गोली की ओर हवा (गैस) को फैलाना है। परन्तु फैलने के लिये दबाई हुई हवा हम कहाँ से लें ? यह स्पष्ट है कि यह हवा हमें ठोस वस्तु से ही मिल सकेगी। इसके पृथक्करण या तोड़फोड़ से हवा और ताप की एक बड़ी राशि निकलेगी।

यह हवा कार्बनिक ऐसिड अर्थात् सोडावाटर वाली गैस होगी, और ताप रासायनिक क्रिया से पैदा होगा। परन्तु कार्बनिक ऐसिड कार्बन और आक्सीजन से बनता है। इसलिए आवश्यक है कि ठोस मिश्रण में लकड़ी का कोयला, और शोरा हो, क्योंकि कोयले से कार्वन और शोरे से आक्सीजन निकलती है। कोयले को जलाने वाली अग्नि का जन्म सनातन टक्कर से होगा। इसलिये बारूद कोयले, गन्धक और शोरे का अन्तिम मिश्रण है। एक रसायन शास्त्री इसकी क्रिया को इस प्रकार कैफियत देता है। बारूद को जलाने पर जो तोड़ फोड़ की क्रिया होती है उसे इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है कि शोरे का आक्सीजन लकड़ी के कोयले के साथ मिलकर कार्बनिक ऐसिड और कार्बनिक आक्साइड बनाता है, नाइट्रोजन पृथक हो जाता है और गन्धक (शोरे की) पोटाशियम के साथ मिल जाती है। इसलिये बारूद पानी के नीचे या किसी बन्द स्थान में चल सकता है, क्योंकि इसके जलने के लिये स्वयं इसमें ही आक्सीजन मौजूद है, और बारूद की महान विस्फोटक शक्ति का कारण यह है कि एक दम बहुत सी गैस (हवा) निकलती है, और ताप के शीघ्रता से बढ़ने के कारण हवा के परिमाण में इतनी आकस्मिक और पर्याप्त वृद्धि होती है कि उससे धमक (भक से उड़ जाने की क्रिया) उत्पन्न हो जाती है।'' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संयोग की क्रिया में केवल यही विशेष गुण प्रकट हो जाते हैं जो कि पहले गुप्त पड़े थे। इसी प्रकार यह युक्ति दी जाती है कि प्रकृति का विशेष समवाय, जिसे हम मनुष्य शरीर कहते हैं, प्रकृति की गुप्त चेतना को विकसित या व्यक्त कर देता है। इसलिए चेतन आत्मा कोई पदार्थ नहीं। सारी चेतना की कैफियत देने के लिए अनन्त गुण सम्पन्न प्रकृति ही पर्याप्त है और इस ''गुप्त चेतना'' के सिद्धान्त को जरा सावधानी से जाँच करें। जब एक सेर बर्फ में तापमापक यंत्र (थर्मामीटर) रखकर उस सारी बर्फ को गरम किया जाता है तो उस सारी बर्फ के पिघल कर पानी बनने तक ताप की एक बड़ी राशि उसमें सोख ली जाती है। या, यदि ताप से पिघलती हुई बरफ में हाथ रखे जाएँ तो जब तक वह सारी पानी न हो जाएगी हाथों को उष्मता का अनुभव न होगा। इस अवस्था में कहते हैं कि ताप पानी में गुप्त हो गया है। यह दृष्टान्त यह दिखलाने के लिये पर्याप्त है कि वह गुण जिसका वर्तमान काल में कोई पता नहीं लगता परन्तु जिसका विशेष अवस्थाओं में अनुभव होने लगता है, गुप्त कहलाता है। अच्छा, जब यह कहा जाता है कि प्रकृति की गुप्त चेतना व्यक्त हो जाती तो उससे क्या अभिप्राय होता है? क्या कोई गुप्त चेतना हो सकती है? क्या कोई ऐसी गड़बड़ और ऐसी घिचपिच की कल्पना कर सकता है? वस्तुओं के उन सारे गुणों की जो हमारे लिये बाह्य हैं, या जो आन्तिरक नहीं, अभिज्ञता के भाव या अभाव की कल्पना

की जा सकती है। पर क्या कोई ऐसी चेतना की कल्पना कर सकता है जो कि कल्पना नहीं ? क्योंकि गुप्त चेतना ऐसी ही वस्तु है जैसा कि गोल वर्ग, या न सफेद सफेद। यह नाम ही निषेधात्मक है। चेतना के अर्थ को न समझना ही इस सारे तर्क का आधार है। यह केवल "गुप्त" शब्द के चेतना पर उपयोग करते समय दुर्व्यवहार से उत्पन्न होने वाला हेत्वाभास है।

हम यहाँ शरीर विद्या सम्बन्धी सिद्धान्त (Physiological theory) का भी उल्लेख करेंगे। इस सिद्धान्त का प्रचार केवल अनुभव को मानने वाले आजकल के वैज्ञानिक और दार्शनिक लोगों में है। यह सिद्धान्त चेतना को प्रकृति और गति की उपज प्रमाणित करने का दूसरा यत्न है : इसकी प्रतिज्ञा है कि मस्तिष्क ही मन का प्रधान साधन नहीं, प्रत्युत मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली नाड़ीगत धाराएँ (Nerve Currents) हमारे जाने हुए मन का सारा स्रोत है। एक लेखक कहता है "मन में उस पर पड़ने वाले संस्कारों को धारण करने की बहुत बड़ी शक्ति है। वे उसकी रचना में मिल जाते हैं, और उसके विकास का एक भाग बन जाते हैं। तत्पश्चात् वे अनेक अवसरों पर पुनः उत्पन्न किये जा सकते हैं, उस समय हम धाराओं और प्रतिधाराओं की ठीक वैसी ही एक माला पाते हैं जैसी कि उस समय थी, जबकि संस्कार पहले बनाया गया था। मन जब अपने व्यापारों को कर रहा होता है तो उस समय उसके साथ नाड़ीगत प्रभाव की असंख्य लहरों के बराबर गुजरने की भौतिक क्रिया भी होती रहती है। चाहे किसी वास्तविक संवेदना से हो, चाहे किसी आवेग से, या प्रत्यय से हो, प्रत्यानुक्रम से हो, साधारण क्रिया वही रहती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो हम कहें कि "न कोई धाराएँ हैं, और न कोई मन"[Σ]। इसके साथ ही हर्बर्ड स्पेंसर साहेब ने संयोगात्मक दर्शनशास्त्र Synthetic philosophy पर अपनी एक पुस्तक में जो कुछ लिखा है वह भी मिला दीजिए। इस बात से आरम्भ करके कि पानी, नाइट्रोजन, और कार्बन किस प्रकार आसानी से बदल जाने वाले मस्तिष्क की सृष्टि करते हैं, वह कहता है कि लहर की उत्पत्ति शक्ति के सरकने से होती है, और मस्तिष्क सम्बन्धी सारी क्रिया केवल शक्ति के हटाने या सरकने का ही परिणाम है। मस्तिष्क के केन्द्रों को लपेटी हुई कमानियों से उपमा दे सकते हैं। नाड़ियाँ अपने आन्दोलन से कमानी की प्रथम गति आरम्भ कर देती है। फिर मस्तिष्क केन्द्र अपने आपको खोलने लगता है। इस प्रतिज्ञा के गुण और अवगुण, या अर्थ प्रकाशक सीमा को दिखलाने के लिए आओ हम इस बात पर विचार करें कि अंश और गुण के प्रभेदों की चेतना कैसे उत्पन्न होती है और शुद्ध चेतना में

[Σ]Henry E. Roscoe, Lessons in Elementary Chemistry.

इन दो प्रकार के भेदों को कैसे अलग-अलग पहचाना जाता है। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि गुण संक्रान्त और परिमाण संक्रान्त (गुण तथा परिमाण सम्बन्धी) प्रभेद क्या होते हैं, दो मन साबुन का पाँच मन साबुन से परिमाण में भेद है। परन्तु ग्लिसरीन के साबुन का कार्बालिक के साबुन से गुण में भेद है। इसी प्रकार हमारी संवेदनाओं, हमारे आन्तरिक अनुभवों में भी परिणाम और गुण के प्रभेद हैं। दो गिलास पानी में घोली हुई एक छटांक चीनी का स्वाद पाँच गिलास पानी में घोली हुई उतनी ही चीनी से भिन्न होगा। परन्तु स्वाद की संवेदना रङ्ग की संवेदना से गुण में भिन्न है। प्रश्न यह है कि मनुष्य को इस बात का कैसे ज्ञान हुआ कि परिमाण भेद और गुण भेद भी कोई वस्तु है। और वह इन दोनों में पहचान कैसे करता है? सरकाओं के सिद्धान्त (Dislodgement theory) पर दोनों की कैफियत नीचे दी जाती है। इससे इसकी निःसारता बिलकुल स्पष्ट हो जायेगी—

मस्तिष्क के चेतन केन्द्रों से आणुविक शक्ति के सरकने का परिणाम चेतना होता है। अब इस प्रतिज्ञा के आधार पर, परिमाण के प्रभेदों की चेतना मस्तिष्क के उन्हीं केन्द्रों से आणविक शक्ति के कम या अधिक परिमाण में छूटने से उत्पन्न होती है। गुण से प्रभेद, जो बाह्य रीति से अलग अलग सीमाओं या इन्द्रियों से संवेदना (Sensation) की भिन्न-भिन्न प्रणालियों द्वारा स्थानान्तरित होने से पैदा होते हैं, आन्तरिक रीति से उनका बोध, इस प्रतिज्ञा के अनुसार, मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न केन्द्रों से आणविक शक्ति के छूटने से होगा। यहाँ तक तो यह कैफियत बिना अशुद्धि के जा सकती है। परन्तु यह प्रश्न अभी तक बना ही रहता है कि मस्तिष्क के एक केन्द्र पर आणविक शक्ति छूटने से दूसरे केन्द्र पर उसी आणविक शक्ति के छूटने से पैदा होने वाली चेतना से भिन्न, गुण की चेतना क्यों उत्पन्न होती है।

कदाचित कई यह कहेंगे कि भिन्न-भिन्न केन्द्रों पर छुड़ाई हुई रासायनिक शक्ति भिन्न-भिन्न मूल पदार्थों के परमाणुओं या भिन्न-भिन्न मिश्रणों के परमाणुओं के वियोग से छूटती है और इसी कारण भिन्न-भिन्न संवेदनाओं का अनुभव होता है। यदि यह बात ठीक भी हो तो प्रश्न वही बना रहता है। क्योंकि यह शक्ति चाहे इस मिश्रण की रचना से या चाहे इस मूल पदार्थ के चाहे उस मूल पदार्थ के परमाणुओं को स्वतन्त्र कर देने से छुड़ाई हुई शक्तियों के बीच जिस एकमात्र प्रभेद की कल्पना हम कर सकते हैं वह परिमाण या अंश का प्रभेद है गुण का प्रभेद नहीं, क्योंकि छुड़ाई जाय तो भी हमें केवल परिमाण के प्रभेद की ही अभिज्ञता प्राप्त होती है, अनुभव के विरुद्ध नहीं है। हमने दिखला दिया है कि गुण प्रभेद आणविक शक्ति के छूटने के सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट नहीं

किए जा सकते । इस अवस्था में पहुँच कर ही शरीर विद्या सम्बन्धी प्रतिज्ञा Physiological of Hypohesis चेतना की शक्ति का परिणाम सिद्ध करने में असक्त हो जाती है ।

इस प्रकार हमने जड़वादियों की सभी कैफियत की हकीकत प्रकट कर दी है । अब आत्मा के विषय में सच्चे विषयाश्रित अनुमानों का वर्णन करना बाकी रह गया है । पहला अनुमान मनुष्य के नाड़ी मण्डल (नर्वस सिस्टम) की बनावट और पट्ठों की गति के साथ उसके सम्बन्ध से उत्पन्न होता है । मस्तिष्क भूरे द्रव्य के समूहों का, जिन्हें मस्तिष्क केन्द्र कहते हैं, बना हुआ है । इन केन्द्रों के सूक्ष्म और सफेद रंग के कोमल तन्तु निकलते हैं । इन तन्तुओं को नाड़ियाँ कहते हैं । कई नाड़ियाँ जिन्हें गति की नाड़ियाँ कहते हैं, पट्ठों में जाकर समाप्त होती हैं । ये पट्ठे नियत गतियों के लिए पृथक रखे हुए हैं । नाड़ियों का काम तार समाचार की तारों की तरह केवल ले जाने वाले माध्यम का है। मस्तिष्क केन्द्र प्रभाव पैदा करते हैं, नाड़ियाँ उस प्रभाव को पट्ठों के पास पहुँचा देती हैं और पट्ठे उसके अनुसार कार्य करते हैं । इस प्रभाव का नाम नाड़ीगत धारा (नर्वस करेन्ट) है । मनुष्य-देह में गति का यन्त्र इसी प्रकार बना है । मान लीजिए कि मैं अपने हाथ को हिलाना चाहता हूँ । संकल्प की आज्ञा पाकर विशेष मस्तिष्क केन्द्र नाड़ीगत धारा उत्पन्न करता है । यह धारा विशेष नाड़ी में से गुजर कर इस स्नायु को ऐंठती हैं और इसके साथ ही साथ हिलने लगता है । स्नायुओं और नाड़ियों का यह व्यापार एक संकल्प करने वाले शासनकर्ता के अस्तित्व को प्रमाणित करता है । इसका एक बहुत ही अनुरूप दृष्टान्त रथी का है जो कि अपने पट्ठों के बल से घोड़ों की बागों को मोड़ता है । और वे घोड़े रथ को खींचते हैं । रथी संकल्प करने वाला शासनकर्ता है । रथी का हाथ जो बागों को प्रेरणा करता है नाड़ियों को नाड़ीगत धारा देनेवाला विशेष मस्तिष्क केन्द्र है । बागें नाड़ियाँ हैं और घोड़ा वह स्नायु है जिसे हिलाना ही अभीष्ट है । इसलिए आत्मा को शरीर रूपी रथ का चलाने वाला रथी समझा जाता है । यह पहला अनुमान है ।

दूसरा अनुमान फेफड़ों की क्रिया से है । साँस लेने की क्रिया में साँस को भीतर ले जाकर रोकना, और फिर बाहर निकाल देना होता है । साँस को भीतर ले जाने की क्रिया में, विशेष झिल्लियों की गति से, वायु मण्डल की पवन फेफड़ों में जाकर रक्त को चलाती है । (Oxidize) कार्बन को कार्बोनिक एसिड बनाती, और दूसरे मलों को भस्म कर देती है । मनु कहते हैं—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।।

सुनार अशुद्ध स्वर्ण को आग में रख, धौंकनी से जल्दी-जल्दी फूँक कर

उनके सारे मलों को जला कर दूर कर देता है। इस प्रकार फेफड़ों को यथोचित रीति से फूँकने से शरीर और शारीरिक इन्द्रियों के मल भस्म होकर दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार दूषित और रासायनिक रीति से परिवर्तित हवा, अब कार्बानिक एसिड और अन्य मलों से लदी हुई फेंफड़ों से बाहर निकल जाती है। यह क्रिया निरन्तर जारी रहती है, और इस प्रकार सांस लेने और बाहर निकालने की क्रिया से शरीर अपने मलों को दूर करता, अपने लहू को ताजा करता, वायु के अदृश्य तत्वों से शक्ति और आहार प्राप्त करता, और अपनी क्षतियों और चोटों की मरम्मत करता है। इस क्रिया से किसी फूंकने वाले के अस्तित्व का पता चलता है। अनुमान को अधिक स्पष्ट करने के लिए, हम लोहार या सुनार का दृष्टान्त लेते हैं जो कि भट्ठी में पड़े हुए लोहे या सोने के टुकड़े में अपनी धौंकनी से जल्दी-जल्दी हवा फूँक रहा है, जब धौंकनी में से मिट्टी में हवा भेजी जाती है तो पट्ठों की एक विशेष शक्ति लगानी पड़ती है। परन्तु धौंकनी को पुनः हवा से भरने के लिए सुनार को कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। यही हाल फेफड़ों का है। सांस को बाहर निकालने का व्यापार संकल्प के अधीन है। परन्तु सांस को भीतर ले जाना सर्वथा अनैच्छिक काम है। अतः यह स्पष्ट है कि फेफड़ों की बनावट एक कारक चेष्टा को प्रकट करती है जो कि लगातार हवा को बाहर भेज रहा है।

एक ऐसा ही अनुमान आँखों के झपकने से निकाला जा सकता है। यह व्यापार भी, फेंफड़ों की तरह, संकल्प के अधीन है। परन्तु अपनी साधारण क्रियाओं में भी यह इतना नियमित और इतना यथार्थ है कि इसे एक चतुर पुतली वाले के हाथ पर नाचने वाली पुतलियों की चेष्टा से उपमा दी गई है। किसी ठोस वस्तु के ऊपर की पलक के भीतरी भाग को स्पर्श करने से कृत्रिम रीति से भी आँख झपकाई जा सकती है। इसमें जो ऐंठाने वाली फड़फड़ाहट उत्पन्न होती है वह एक भीतर निवास करने वाले गुप्त स्वामी की भावना को बड़ी ही स्पष्ट रीति से प्रकट करती है। जब आँख में कोई चीज पड़ जाती है तो उसे निकाल फेंकने के लिए स्वामी की आज्ञा से पुतलियों के नाच की तरह आँख फड़कने लगाती है।

आरोग्य और वृद्धि के शरीर-विद्या सम्बन्धी दृश्य चमत्कार, बहुत ही प्रबोधक हैं। आत्मा, शरीर-वृद्धि की क्रिया में सम-प्रमाण रूप से अपनी भीतरी शरीर व्यवच्छेद विद्या (Anatomy) के द्वारा शरीर के सभी अंगों को बनाता, क्षतिग्रस्त अवयवों की मरम्मत करता, घावों तो चंगा करता, और सबसे बड़े महत्व की बात यह है कि यह, सब रोगों और संभोगों को दूर करने का सच्चा यत्न करता है। इसी से स्थितिपालक शक्तियाँ, या मनुष्य शरीर की ''युक्ति''

आदि परिभाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इस सत्य घटना के गुणों को यथार्थ रीति से ग्रहण कर लेने से ही एक ऐसे श्रेष्ठ चिकित्सक समाज का जन्म हुआ है जो मनुष्य शरीर को एक स्वयं उपशमकारिणी संस्था समझता है। उनकी चिकित्सा में औषध कभी-कभी प्रकृति की सहायता के लिए ही दी जाती है, रोग को दूर करने के लिए नहीं। इस शरीर-विद्या सम्बन्धी शक्ति और आत्मा के ऐसे ही अन्य व्यापारों के विषय में एक प्रसिद्ध चिकित्सक कहता है, ''जड़वादी'' कहते हैं कि परिपचन पेपसिन नामक एक विशेष ऐन्द्रियिक पदार्थ और लेकटिक एसिड, असीटिक एसिड और हाइड्रोक्लोरिक एसिड आदि अनेक अम्लों की क्रिया से होता है। पर सच्चाई यह है कि अन्न नालिका (वह बड़ी नाली-मुँह, कण्ठ, आमाशय और अन्तड़ियाँ—जिसके द्वारा परिपचन क्रिया में भोजन शरीर में से गुजरता है।) में क्लेदमय झिल्ली में असंख्य गिलटियों की गति की तरह, बर्तुल संकोच उत्पन्न करने वाली स्नायु तंतुओं की अकाम चेष्टा Peristaltic Movement और इसलिए स्वयं परिपचन भी मस्तिष्क और रीढ़ की हड्डी के साझे केन्द्रों की सहायता के बिना ही, सहानुभावी मंडल Sympathetic System के तंतुओं के द्वारा आत्मा रूपी सूत्र की क्रिया से होता है। यह सहानुभावी मण्डल (सिम्पेथेटिक सिस्टम) स्वाधीन गतिक सहजावबोधों और विशेषतया उन प्राणभूत स्वतः विश सूत्रों का निवास स्थान और खम्भा है जो कि प्रकृति की घटना में सार और तेज से निकल कर मनुष्य की आध्यात्मिक रचना में उसी तरह की वस्तुओं में प्रवेश करते हैं। इसलिए क्षुधा आत्मा का अपने लिए और अपने आश्रित शरीर के लिए सार्वत्रिक शब्द है। और आत्मा को अपने और शरीर के बनाने के लिए जो कुछ दिया जाता है उसे अपनाने का नाम परिपचन।''

अन्ततः वे जटिल सम्बन्ध जो ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियों के साथ स्थापित करती हैं, आत्मा के अस्तित्व के अनुमान के लिए बड़ी दृढ़ भित्ति का काम देते हैं। किसी वस्तु के रंग या गंध को देखकर उसका स्वाद स्मरण आ जाता है, और उसके स्वाद की भावना जिह्वा को उत्तेजित करके बहुत सा थूक पैदा करती है मानो वह उस वस्तु को अभी खाने ही लगी हो। वास्तव में, परीक्षा के लिए कुत्तों की जीभों से बहुत सा थूक इसी विधि से उनको मांस के स्वादिष्ट खाने दिखला कर प्राप्त किया जाता है। कुत्तों को वे भोजन कम से कम उस समय, खाने को नहीं दिये जाते, दूर से देखकर ही उनकी जीभ पानी छोड़ने लगती है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियों के व्यापारों का वास्तव में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक ही उपलब्धि के द्वारा उत्पन्न हुए सुयोगों से कई भयानक रोग पैदा हो सकते हैं। ये सब बातें एक मध्यवर्ती चेतन सत्ता का, जिसे यहाँ आत्मा कहा गया है, अनुमान करती हैं। ●

॥ ५ ॥

वायुमण्डल

वेद-वाक्य : वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अलंकृताः
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ ऋ० मं० १ सू० २ मं० । १ ।

जो वायुमण्डल हमारी पृथ्वी को एक विशेष ऊँचाई तक चारों ओर से घेरे हुए है उससे बढ़ कर संसार में और कोई भी वस्तु भगवान् के उदार दान को दर्शाने वाली नहीं है । वह वाष्पमय आवरण लचकदार और साथ ही पतला भी है । हलकापन इसका विशेष गुण है । इसीसे यह हलके से हलके संक्षोभ से भी प्रभावित हो जाता है ।

कल्पना कीजिए कि लोहे का एक बड़ा पिण्ड, एक ही दशा में निश्चेष्ट पड़ा है, और कल्पना कीजिए कि एक भारी पत्थर या ठोस गेन्द लोहे के इस बेडौल पिण्ड पर फेंका गया है । देखिये क्या परिणाम निकलता है । आप देखेंगे कि वह बेडोल पिण्ड कैसी भद्दी तरह आवेग की आज्ञा का पालन करता है, वह निश्चेष्ट पिण्ड टक्कर मारने वाले पत्थर की कार्यशक्ति के साथ सजीव होने के लिए कैसी अनिच्छा से अपनी जड़ावस्था का परित्याग करता है । इस जड़ पिण्ड और वायुमण्डल में कितना भारी भेद है । वायु का प्रत्येक अणु हलका और लचकदार होने के कारण, बाहर की सभी शक्तियों के इतनी जल्दी अधीन हो जाता है, और, अपनी गतिशीलता के कारण, आवेग को अपने आप इतना बढ़ा देता है कि एक बहुत हल्की थरथराहट से भी यह वायु में अणुओं के उन्मुक्त मार्ग पर दौड़ने लगता है, यहाँ तक कि एक और अणु के साथ उसकी ताजा टक्कर लगती है । यह दूसरा अणु तत्काल उठ खड़ा होता है और अपने काम पर चल पड़ता है, मानो पहले से ही प्रतीक्षा कर रहा था । दूसरा अणु पहले अणु की आज्ञा पालन करता है और तीसरा अणु दूसरे की आज्ञा का इत्यादि ।

केवल थोड़े से ही क्षण बीतने पर (पाँच या छः सेकेण्ड से अधिक नहीं) आँख झपकने में वायु के व्यापक महासागर का एक विशाल प्रान्त कोई एक मील क्षेत्रफल ११०० फुट से ५ गुना लम्बा प्रान्त—अतीव सुन्दर तरङ्गों से भर जाता है । तनिक कल्पना कीजिए कि वायु के अणु कैसे शीघ्रग्राहक और सूक्ष्म हैं । क्या पंखों की हलकी से हल्की फड़फड़ाहट और क्या शरीर से निकलते रहने वाला चुपचाप सांस कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो वायु के प्रान्तों को उत्कृष्ट तरङ्गो से न भर दे ।

इस प्रकार इस गतिशील वायु के द्वारा थरथराहटें प्रकाण्ड वेग के साथ आगे से आगे भेजी जाती हैं। वायु के अणुओं के अदृश्य कौशलपूर्ण नक्शे बन जाते हैं। इन चित्रों का सौन्दर्य अवर्णनीय होता है। कवि इमर्सन ने वास्तविक अवस्था का सच्चा चित्र इस प्रकार खींचा है।

"यह नहीं हो सकता कि तुम वायु में अपनी छड़ी को घुमाओ और वायु का ललाट सौन्दर्य से परिपूर्ण न हो जाय। या तुम अपने चप्पू को झील में डुबोओ और तरङ्ग माला रूपी पद्यावली न बन जा।"

वायु के गतिशील पंखों के द्वारा ही फूलों की महक, इत्रों की सुगन्ध और वस्तुओं की दुर्गन्ध अतीव दूर देशों तक उड़ कर चली जाती है। इससे गति की एकरूपता तथा सुस्वरता के साथ मेल कराने वाली व्यापकता उत्पन्न होती है। तो क्या फिर विधाता की इस अद्भुत रचना के लिए हवा (एअर) जैसे भद्दे, निरर्थक, अधूरे और अस्पष्ट नाम की अपेक्षा एक हल्का, गतिशील, थरथराहटों को आगे पहुँचाने वाला, दुर्गन्धों को उठाकर ले जाने वाला माध्यम अच्छा और ठीक नाम नहीं ? वैदिक शब्द वायु, जिसके साथ ऊपर दिया मन्त्र आरम्भ होता है, ठीक वही अर्थ देता है, जो ऊपर की पंक्ति में मोटे टाइप में छपे हैं[Σ]।

हमने देख लिया कि जिन अणुओं से वायु बना है उनके भौतिक विशेष गुण क्या हैं। अब हमें विचार करना है कि ये क्या-क्या दृश्य-चमत्कार पैदा करते हैं। पृथ्वी पर पड़ने वाली सूर्य की किरणें पृथ्वी के स्तरों को गरम करती हैं। वायु की यह तहें गरम होने पर हल्की होकर ऊपर चढ़ जाती है। इन गरम तहों के ऊपर चढ़ जाने से जो शून्य उत्पन्न होता है उसे भरने के लिए पवन की ठण्डी तहें वहाँ शीघ्रता से पहुँचती हैं। वे भी फिर गरम होकर ऊपर चढ़ जाती है और वायु की वैसी ही और तहों के आगमन के लिए स्थान खाली कर देती हैं। इस प्रकार गरमी का एक तेज दौरा जारी रहता है। इसी से वायु के प्रवाह उत्पन्न होते हैं। बहने वाली सब हवाएँ ठीक इसी प्रकार की होती है। व्यापारी हवाएँ कहलाने वाली उत्तर-पूर्वी और दक्षिण पूर्वी हवाएँ भी इसी प्रकार चलती रहती हैं।

[Σ] 'वायु' निरुक्तकार ने 'वा' धातु से, जिसका अर्थ हिलना, गन्धमय पदार्थ को उठाकर ले जाना है, या 'वाह' से, जिसका अर्थ थरथराहटों को दूर तक पहुँचाना है, निकाला है। यह सदा तरंगों के रूप में बहता रहता। दृष्टि और अन्य रूपों के विस्तार का कारण है। यह पौधों को हवा आदि भोजन देता है और वनस्पतियों तथा पशुओं में साम्य स्थिर रखता है। इसी के प्रताप से हमारा और बाकी सबका शब्द सुनाई देता है।

पृथ्वी के जो भाग विषुवत् रेखा के निकट हैं उन्हें दूसरे भागों की अपेक्षा सूर्य का ताप सदा ही अधिक मिलता है। पृथ्वी के उन भागों का स्पर्श करने वाले वायु के स्तर ऊपर उठते हैं और उत्तर और दक्षिण से ठण्डा पवन विषुवत रेखा की ओर दौड़ने लगता है। यह पवन पृथ्वी की चक्कर की तरह घूमने वाली गति के साथ मिलकर उत्तर-पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी हवाओं को जन्म देता है। अतएव पहले तो हम देखते हैं कि वायु सदैव घूमता रहता है और लहरें उत्पन्न करके उन्हें सदा चलाता रहता है। इसलिए यह वायु (आयाहि) लहरों के रूप में सदा चलता रहता है।

दूसरे देखिये कि प्रकाश के चमत्कारों को परिवर्तित करने में इसका क्या प्रभाव है ? नाना सूर्यों और तारों से आने वाला प्रकाश अन्ततः आकाश में बहुत ऊँचाई पर वायु के अत्यन्त सूक्ष्मीभूत स्तरों के साथ टकराता है। शून्य से वायु में प्रवेश करते समय प्रकाश की ये किरणें मुड़ जाती हैं और वक्रीभवन के कारण एक मुड़े हुए मार्ग का अवलम्बन करती हैं। यदि वायु के निचले स्तर, जिनमें इन किरणों को गुजरना पड़ता है, एक जैसे ही गरम होते, तो वायु के पहले स्तर के संसर्ग से एक बार मुड़ जाने पर प्रकाश की किरण फिर वायु में सीधी ही चलती है। परन्तु भिन्न-भिन्न तापों, अतएव भिन्न-भिन्न घनताओं वाले वायु के स्तरों के मिलने से यह यात्रा में पग-पग पर थोड़ा-थोड़ा टेढ़ी होती जाती है, यहाँ तक कि ये किरणें सब विचित्र मार्गों, सब प्रकार के अनन्त टेढ़े-मेढ़े पथों में से होती हुई अन्ततः ऐहिक पदार्थों तक और हमारे नेत्रों तक, पहुँच कर दृष्टि को उत्तजित करती है ? दृष्टि के विषय को ये कैसी अद्भुत रीति से विस्तृत और परिवर्तित कर देती हैं यह बात अब स्पष्ट हो जायेगी। यहाँ तक कि अतीव मायिक रूप जिसे "मृगतृष्णा" कहा जाता है, जो तप्त बालुकामय मरुस्थलों में पथिकों को प्रायः दिखाई देता है, उसका कारण भी वायु के तप्त स्तरों के बने हुए असंख्य पृष्ठों पर प्रकाश का परावर्तन और बक्री भवन ही है। अतएव यह वायु का ही प्रताप है जो हम न केवल प्रकाश के स्रोत, सूर्य की दिशा में ही प्रत्युत शेष सब दिशाओं में भी देखने में समर्थ हैं। इस प्रकार यह हमारी दृष्टि के विषय को विस्तृत कर देता है। मृगतृष्णा ऐसे मायिक दृश्य चमत्कारों अथवा रूपों के दृष्टि न होने का कारण भी वायु ही है। इसलिए हमारा वायुमण्डल वायु की तरंगें उत्पन्न करने के अतिरिक्त हमारी दृष्टि की दूरी को बढ़ाता और मरीचिका सरीखे दृश्य-चमत्कारों का कारण है। तब ही हम ऊपर दिये वेद मन्त्र में दर्शता शब्द देखते हैं। इसका अर्थ है दृष्टि तथा अन्य रूपों के विस्तार का कारण।

प्रकृति के प्रबन्ध में एक और अतीव महत्वपूर्ण भाग जो वायु लेता है वह वनस्पतियों के प्रतिपालन और रक्षण का भाग है। वायु में कार्बानिक एसिड की

विशेष मात्रा सदा ही विद्यमान् रहती है। यह मात्रा चाहे कितनी ही थोड़ी क्यों न हो पशु जगत् और वनस्पति जगत् में साम्य बनाए रखने के लिए पर्याप्त है। वृक्षों और पौधों के शरीरों का एक अत्यावश्यक भाग कार्बन है। यह कार्बन वे सारी की सारी वायु से लेते हैं। पौधों के पत्तों में एक प्रकार का द्रव्य होता है। जिसे क्लोरोफिल कहते हैं। क्लोरोफिल प्रकाश की विद्यमानता में वायु के कार्बानिक एसिड गैस को फाड़ डालता है। इस तोड़-फोड़ (पृथक्ककरण) से जो कार्बन निकलता है उसे पौधे अपने अन्दर मिला लेते हैं और आक्सीजन छूटकर बाहर निकल जाती है। कार्बानिक एसिड से निकली हुई इस आक्सीजन से पशु सांस लेते हैं। जीवों के जीवन का आधार उनके शरीरों की गरमी है। जब तक यह गरमी बनी रहती है वे जीते रहते हैं। यह गरमी पशु-शरीर की कार्बन के आक्सीजन के साथ जलने से उत्पन्न होती है। इस प्रकार सारे पशु सांस के साथ आक्सीजन खाते और कार्बानिक एसिड निकालते हैं साथ ही सब पौधे कार्बानिक एसिड का कार्बन अपने अन्दर सोख लेते हैं। इस प्रकार पशुओं और पौधों के बीच वायु माध्यम का काम देता है। इन्हीं कारणों से सभी पशुओं और पौधों का जीवन वायु के आश्रय है। वायु न केवल पशुओं और पौधों के अस्तित्व के लिए ही आवश्यक है प्रत्युत यह इन दोनों श्रेणियों के बीच गतिशास्त्र विषयक समता बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है। वेद में "सोम" शब्द मिलता है। इसका अर्थ पृथ्वी से निकलने वाली कोई वस्तु है। विशेषतः यह नाम वनस्पति का है। क्योंकि जिस भूमि से यह उगती है उसीके आश्रय रहना इसके लिए अनिवार्य है। इसीलिए वेद मन्त्र में 'सोमा अरंकृताः तेषां पाहि' आया है। इसका अभिप्राय यह है कि वायुमण्डल पौधों को श्वास के लिए पवन और खाने के लिए भोजन देता है और वनस्पतियों और पशुओं के बीच साम्य रखता है।

वायु के दृश्य-चमत्कारों पर विचार करते हुए ध्यान में रखने योग्य एक और बात यह है कि यह सब शब्दों को ले जाने का काम करता है। मनुष्य को प्रायः बोलने वाला पशु कहा जाता है। इसमें सन्देह भी नहीं कि बोलने की शक्ति ही मनुष्य का एक बड़ी सीमा तक दूसरे पशुओं से भेद करती है। अब यह वाणी जो कि इन अर्थों में, हमारे उत्कर्ष और सभ्यता का मूल है, अवश्य ही उच्चारित शब्दों की बनती है। यदि वायु न होता तो इन शब्दों से हम कुछ भी लाभ न उठा सकते। तब वायु भी शब्दों को ले जाने के लिए एक माध्यम है। यही सच्चाई ऊपर दिये मन्त्र के पिछले शब्दों में श्रुधि—हवम्-में वर्णन की गई है, अर्थात् यह हमारे शब्दों और अन्य ध्वनियों को सुनाता है।

●

६

जल की रचना

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् ।
धियं धृताचीं साधन्ता ।। ऋ० मं० । सू० २ । मं० ७ ।।

ऋग् शब्द द्रव्यों के स्वभावों, विशेष गुणों और उनसे उत्पन्न होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का सूचक है । इसलिये इसका प्रयोग ऋग्वेद के लिए हुआ है । क्योंकि इस वेद का काम सब स्थूल पदार्थों के भौतिक, रासायनिक और कर्मोधुक विशेषगुणों और मानसिक द्रव्यों के आध्यात्मिक उपयोग है, क्योंकि सारे ज्ञान का कोई उद्देश्य है और वह अन्त में मनुष्य के लिए उस की उपयोगिता है । अतएव ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद आता है । यजु का अर्थ उपयोग है । आर्यों के पाठक्रम, अर्थात् वेदों की ऋग् और यजु में बाँट इसी उदार और व्यावसायिक (वैज्ञानिक) शिक्षा के दुहरे सिद्धान्त पर आश्रित है ।

वेदों के विषय में आर्यों के इस भाव पर हमें हँस नहीं देना चाहिए क्योंकि इस भाव को सत्य ठहराने के लिए पर्याप्त कारण है । यह कोई नूतन भाव नहीं । हिन्दुओं के पुराण भी जो कि वैदिक अर्थ और वैदिक आशय का भ्रष्ट और गर्ह्य मोड़ तोड़ हैं, इसी भाव के पोषक हैं । सारी शिक्षा का उदार और व्यावसायिक भागों में विशाल और सार्वत्रिक भेद पौराणिक देवमाला में सर्वथा भुला दिया गया है । बाकी सब वस्तुओं की तरह इसे सुकोड़ कर उथले विचार का एक संकीर्ण और मूढ़विश्वास मूलक चक्र बना दिया गया है । उदार और व्यावसायिक विद्याओं की सार्वत्रिक पाठ्यपुस्तकें समझी जाने के स्थान में वेद अब केवल धार्मिक विचार की संहिताएँ समझे जा रहे हैं । मनुष्य प्रकृति की सर्व कर्मोयुक्त प्रवृत्तियों का पथप्रदर्शक नियम स्वीकृत होने के स्थान में वे अब विशेष मतों और सिद्धान्तों के पर्याय माने जा रहे हैं । यही हाल ऋग् और यजुर्वेद का है । फिर भी आर्यों के विचार और बुद्धि के इस विकृत अवशिष्टांश में—पौराणिक वेदमाला में—वेदों की ऋग् और यजु अर्थात् उदार और व्यावसायिक में बाँट भक्तिभाव के साथ सुरक्षित पड़ी है । ऋग् का तात्पर्य अब विविध देवताओं और देवियों के वर्णन और स्तुति के गीतों और स्तोत्रों का संग्रह है, और यजु का अर्थ धार्मिक विधियों के आवश्यक भाग, अर्थात् अनुष्ठान, में बोले जाने वाले मंत्र हो रहा है । जिन्हें आजकल विद्वान कहा जाता है उनका यही मत है ।

फिर भी हमें मौलिक भेद को बिल्कुल भूल न जाना चाहिए। इस के अन्दर बहुत कुछ ऐसा है जो इसे बनाये रखने की सिफारिश करता है। इस लेख के आरम्भ में जो वेद मंत्र दिया गया है, वह ऋग् वेद के दूसरे सूक्त का है। ऋग्वेद के विषय में आर्यों का जो मत है, उसे सत्य ठहराने के लिए ही यह नमूने के तौर पर उद्धृत किया गया है। यह मंत्र इस रीति या क्रम (धियं) का वर्णन करता है जिससे प्रसिद्ध द्रव, अर्थात् जल, दो और पदार्थों (धृताचिन्साधन्त) के संयोग से बनाया जा सकता है। साधन्त शब्द द्विवचन है। इसलिए यह इस बात का सूचक है कि दो मूल पदार्थ मिलकर ही जल बनाते हैं। इस मंत्र के अनुसार वे दो मूल पदार्थ कौन-कौन से हैं इस बात का निश्चय करना कुछ कम महत्त्व की बात नहीं। उन दो पदार्थों को प्रकट करने के लिए मित्र और वरुण का प्रयोग हुआ है।

मित्र* का पहला उदार अर्थ मापने वाला है। यही नाम उस पदार्थ का है जो माप या मान वस्तु का काम देता है। यह घनता का मूल्य, मापक है। मित्र का दूसरा अर्थ 'सहकारी' है। इस मंत्र में मित्र को वरुण + का सहकारी बताया गया है। यह बताया जायगा कि वरुण किस तरह आक्सीजन X गैस को प्रकट करता है। अब यह हर कोई जानता है कि मूल पदार्थों में हाइड्रोजन न केवल सबसे हल्की ही है, न केवल (Monovalent) ही है, प्रत्युत्त इसमें आक्सीजन के लिए प्रबल प्रीति भी है। इसलिए इसे वरुण या सहकारी बताया गया है। मित्र और हाइड्रोजन के विशेष गुणों में और अनेक सादृश्य ऐसे हैं जो संकेत करते हैं कि जिसे वैदिक मंत्र में मित्र कहा गया है वह और हाईड्रोजन वास्तव में एक ही पदार्थ है। उदाहरणार्थ, वेद के अनेक स्थलों में मित्र और उदान तुल्यार्थवाचक हैं। और उदान का विशेष गुण हलकापन या ऊपर उठाने की शक्ति है।

---

* अमिचिमिशसिभ्यः क्रः। उण० ४।१६४।। इस सूत्र के अनुसार मित्र शब्द मि धातु के साथ उणादि प्रत्यय क्र लगाने से बनता है। इसका अर्थ है मनोति मान्यं करोति मित्रः, अर्थात् जो मापता है या दूसरे को मापने के लिये आदर्श का काम देता है।

\+ फिर निघंटु के पाचवें अध्याय, चौथे उपकरण में मित्र इतिपदानामसुपठितम् मिलता है। निघण्टु वेदों का कोष है। इस लिये मित्र का अर्थ है वह जो दूसरों का संग ढूँढता है।

X वृञ् धातु का अर्थ स्वीकार करना है, कृवृदारिभ्य उनन् ३।५३।। इस धातु के साथ उणादि प्रत्यय का उनन् लगाने से वरुण बना है। इसलिये इसका अर्थ है—जो सबके लिये ग्रहणीय है या जो सब को चाहता है।

दूसरा मूल पदार्थ, जिसके साथ हमारा सम्बन्ध है, वरुण है। वरुण वह पदार्थ है जो सबके ग्रहणीय है। यह वह मूल पदार्थ है जिसकी प्रत्येक प्राणधारी को जीवित रहने के लिये आवश्यकता है। इसका प्रसिद्ध गुण रिशादः है, अर्थात् यह सब नीच धातुओं को खा जाता है या जंग लगा देता है, यह सब हड्डियों आदि को जलाता है और शरीर शास्त्र की रीति से लहू को जलाकर इसे शुद्ध करता है और इस प्रकार शरीर को जीवित रखता है। यही गुण है जिनसे साधारणतः वरुणः पहचाना जाता है, पर यहाँ इसे विशेष तौर रिशाद धर्म से निरूपित किया गया है। कोई भी व्यक्ति यह कहने में गलती नहीं कर सकता कि जिस पदार्थ को ऐसी स्पष्ट रीति से निरूपित किया गया है, वह आक्सीजन गैस है।

मंत्रों में एक और शब्द पूतदक्षम् आया है। पूत का अर्थ पवित्र और मलिनताओं से रहित है। दक्ष कहते हैं शक्ति को। पूतदक्षम् का अर्थ पवित्र और गमनशील शक्ति वाला पदार्थ हुआ। और कौन ऐसा व्यक्ति है जो गैसों के गति विज्ञान-सम्बन्धी नियम को जानता हो और फिर पूतदक्षम् में एक अतीव गर्म की हुयी गैस के विशेष गुण न देख सके ?

सारे मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—जो व्यक्ति दो पदार्थों के संयोग से जल बनाना चाहता है, उसे चाहिये कि बहुत गरम की हुई हाइड्रोजन और रिशाद धर्म वाली आक्सीजन गैस ले, और दोनों को मिलाकर जल बना ले।

निस्सन्देह, यह बात बड़ी विचित्र प्रतीत होगी कि जिस समय जल की रचना पर कैवेंडिश ने अपना प्रयोग किया, जिस समय पश्चिम के तत्त्ववेत्ताओं को आक्सीजन और फलोजिस्टन मालूम हुए उसके बहुत काल पहले जल की रचना का वास्तविक तत्त्वज्ञान वेदों में लिखा हुआ मौजूद है और कदाचित् पूर्व के अनेक तत्त्ववेत्ता इसे जानते थे।

हमारे पाठकों में से कोई यह कल्पना न कर लें कि वेद मंत्र की ऊपर दी हुई व्याख्या लेखक के मस्तिष्क की केवल काल्पनिक उपज है। वास्तव में यह व्याख्या वेदों के पहले से मौजूद भाष्यों के आधार पर की गई है। क्या प्राचीन भाष्यों और क्या स्वामी दयानन्द के भाष्य में बहुत कुछ ऐसी सामग्री है जो सब मंत्रों के ऐसे ही अर्थ सुझाती है। ●

७

गृहस्थ

गृहस्थ के विषय में ऋग्वेद के पहले मण्डल, १० वें अनुवाक ५० वें सूक्त के पहले, दूसरे और तीसरे मंत्र की वैज्ञानिक व्याख्या ।

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम् ।

गृहस्थाश्रम के विषय पर ऋग्वेद के पचासवें सूक्त के कुछ मंत्रों की व्याख्या आरम्भ करने के पहले, मैं उन प्राचीन ऋषियों के साथ न्याय करते हुए, जो उस काल में रहते थे जब कि, जितना इस समय वायबल, जिन्दावस्था, और कुरान का पूजन होता है उससे अधिक सरल, निर्व्याज और यथार्थ रीति से वेद का पूजन होता था और जबकि उसका अधिक ठीक अर्थ समझा जाता था, हाँ उन्हीं ऋषियों के साथ न्याय करते हुए यह कह देना चाहता हूँ कि प्रकृति की अनेक परिस्फुट और अधिक गहन शक्तियाँ उनके मनों के लिये सीढ़ियाँ थीं, जिनके द्वारा कि वे भौतिक पदार्थों की निचली गहराइयों से दिव्य ध्यान की स्वर्गीय ऊँचाइयों तक चढ़ते थे । उनका विचार भौतिक शक्तियों के सोपान पर सुपरिचित रीति से चढ़ना रहता था यहां तक कि उसे दिव्य सत्ता की झलक दृष्टिगोचर हो जाती थी । इस प्रकार प्राप्त किये हुए प्रकाश के साथ पुष्ट होकर वह उसी मार्ग से वापस लौट आता था और अपने भाइयों अर्थात् सारी मानव-जाति को उस उदारता का भाग देता था । मैं कहता हूँ कि जब कि मैं इस स्वर में बोल रहा हूँ मैं अपने निज के अनिश्चित, अनियत भावों, अपनी चञ्चल और संकीर्ण कल्पना की फुसफुसाहटों का प्रकाश नहीं कर रहा। जातीय अभिमान, पक्षपात या रिवाज की वेदी पर बलिदान रूप से कोई श्लाघा के शब्द नहीं । प्रत्युत इसमें सन्देह नहीं कि जो उच्च जीवन ऋषि बिताया करते थे, उनका यह निर्व्याज पर अधूरा वर्णन है । परन्तु सृष्टि के आरम्भ में होने वाले चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा की व्यवस्था अधिक उच्च और विचित्र रीति से रमणीय थी । आर्यों के विश्वासानुसार इन ऋषियों की मनः शक्तियाँ वेद के प्रकाश से प्रकाशित थीं । सिर को चकरा देने वाली ऊँचाइयाँ जिन पर बिना किसी विभ्रान्ति के ऋषियों के विचार चढ़ा करते थे, टेढ़े-मेढ़े गोरख धन्धे जिन में से उनकी बुद्धियाँ व्याकुल और क्लान्त होने के स्थान में प्रयत्न से पुष्ट और प्रसन्न होकर दिव्य संकल्प की एकता का पता लगाया करती थीं, ये ऐसी सच्चाइयाँ हैं जिन को हम सभ्यता के युग, उन्नीसवीं शताब्दी के मुग्ध दुलारे अनात्मवादी विज्ञान की गोद में पले हुए और युक्ति और अनुमान

की कठिन रीतियों द्वारा आविष्कृत तथा जुदा-जुदा सच्चाइयों के कोयलामय भोजन और घटनाप्रधान कल्पनाओं और प्रतिज्ञाओं के शोरामय खाद्यों द्वारा आश्रित भारी भारी सच्चाइयों के दूध से पोषित दुलारे-सुगमता से समझ नहीं सकते। इन ऋषियों की सत्यानुरागिनी, काव्यप्रेमी, और सौंदर्य प्रशंसक प्रकृति आधुनिक लोगों के लक्ष्मी पूजक, व्यावहारिक, उपयोग प्रशंसक और कठोर मनों से बहुत भिन्न थीं। तब कोई आश्चर्य की बात नहीं जो कि इस खोज उद्योगिता के युग में हम वैदिक ज्ञान के इतने थोड़े वृत्तिकार पाते हैं। साम्प्रदायिक मूर्ख और धार्मिक पक्षपात का चश्मा लगाने वाले सच्चाई को इसके अनुगामियों या भक्तों की संख्या से मापते हैं। अतएव ईसाई लोग कह सकते हैं कि संसार में हमारी सबसे बढ़ी हुई संख्या इस बात का प्रमाण है कि ईसाई मत ही एक ऐसा विधान है जिसके सारे संसार में फैलाने की परमेश्वर ने व्यवस्था की है। पर वैदिक सच्चाई की बात इससे सर्वथा भिन्न है। यह सच्चाई नित्य है। यह अन्य मतों की तरह आज या कल की उत्पत्ति नहीं। वैदिक सच्चाई का प्रमाण इस के बढ़ने और फैलने की शक्ति नहीं प्रत्युत इसकी आज और कल एक समान बना रहने की अन्तर्निरूढ़ शक्ति है। मनुष्य और समाज पन्थ और सम्प्रदाय संसार के दिवस की केवल नश्वर चीजें हैं। वज्र की चट्टान पर ऊँची बैठी हुई सच्चाई ही नित्य और श्रेष्ठ है।

जगदीश्वर और प्रकृति की यही सच्चाई आदि चार ऋषियों को समझाने के लिये दी गई थी। हमारी वेद ज्ञान से शून्य आँखें चाहे इधर उधर खनिजों से वनस्पतियों तक और वनस्पतियों से मनुष्यों तक एकता ढूँढती फिरें और उन्हें इसमें सफलता न हो, पर उन चार ऋषियों के वेदज्ञान प्राप्त मन प्रत्येक पदार्थ में दिव्य मन की एकता को देख सकते थे। खनिज पदार्थ वनस्पतियों और पशु सब उनके लिये एक पुस्तक के समान थे जिसमें कि उन्हें केवल परमेश्वर की शक्ति, न्याय और प्रज्ञा का ही पाठ पढ़ने को था। ईश्वरीय ज्ञान की उच्चता के कारण उनके मानसिक नेत्रों के सामने प्रकृति चित्र सुदूर भविष्य में मानवी संस्थाओं, सिद्धियों, और आकांक्षाओं के चित्र पहले से आ उपस्थित होते थे, और इन सब में वे परम पिता की अन्तरात्मा को पैतृक चिन्ता के साथ अपनी सन्तान के मंगल और आनन्द के लिये सनातन संकल्पों पर विचार करता हुआ देखते थे। पाठक, एकबार कल्पना कीजिये की आप इस उन्नत अवस्था में हैं। तब ही आप वैदिक मंत्रों का गहरा अर्थ समझने और ग्रहण करने के योग्य होंगे। यह गहरा अर्थ सब कहीं आध्यात्मिक है। मंत्र और मंत्र के बीच एक सूक्ष्म और बहुत श्रेष्ठ शृंखला है। यह केवल ऐसी अभ्युदय की घड़ियों में ही देखी जा सकती है।

हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि आन्तरिक का समझना सदा अधिक कठिन होता है। आधुनिक पंडित, जिसकी इन्द्रियों की शक्तियाँ भौतिक दृश्य चमत्कारों में पैदा होने वाले परिवर्त्तनों और रूपों को ध्यानपूर्वक देखने के लिए सिखाई गई हैं। चाहे मंत्र और मंत्र के बीच कोई सम्बन्ध और संगति न देखे। उसे वेद भले ही उन अलग प्रार्थनाओं का संग्रह मालूम हों जो कि वायु और वर्षा आदि प्रकृति की शक्तियों को देवता समझ कर उनके सामने की गई थीं। लेकिन एक सच्चे और सोद्यम जिज्ञासु के लिये, जो मेरी ऊपर वर्णित उन्नत अवस्था में प्रविष्ट हो चुका है, मंत्रों के अन्वय में वह युक्ति-सिद्ध संगति और दार्शनिक परम्परा पाई जाती है जिसे केवल ईश्वरीय ही कहा जा सकता है। वेदों का अध्ययन हमें उसी भाव से करना चाहिये जिसका नमूना ५० वाँ सूक्त उपस्थित करता है।

मैं पहले कह चुका हूँ कि ऋषियों के मतानुसार ब्रह्माण्ड एक सीढ़ी है, जिसके साथ साथ वेदज्ञान प्राप्त मन, ईश्वर-चिन्तन तक चढ़ता है। ऋग्वेद के ३०वें सूक्त के इस मंत्र का विषय ठीक यही है।

अन्धेरी रात्रि में जब कि वर्षा हो रही थी और अन्धेरी चल रही थी, निःशब्दता और गहरी निद्रा के समय एक चोर एक शान्त परिवार के धनागार में प्रविष्ट हुआ और सब बहुमूल्य रत्न और सम्पत्ति चुरा ले गया। माल पाने की खुशी में वह बीस मील गीली भूमि पर ही वापस दौड़ आया। वहाँ आकर वह समझने लगा कि अब मुझे पकड़ने वाला कोई नहीं। पर सबेरा हुआ और घर का स्वामी जागा। उसे अपने घर की चोरी का पता लगा। निर्भयता और स्थिरता के साथ, पर शान्तचित्त होकर, वह चोर के पद चिह्नों पर चल पड़ा और शनैः शनैः परन्तु निश्चिन्त रूप से समागम स्थान पर जा पहुँचा और उसने चोर को चुराये हुए धन सहित पकड़ लिया। यह एक उपमिति मात्र है। मुझे चोरी और सम्पत्ति से काम नहीं। मेरा सम्बन्ध, किसी चोर के पदचिह्नों से नहीं प्रत्युत ब्रह्मांड के आकार पर बने हुए स्रष्टा के पद-चिह्नों से है। वह बुद्धिमान् जिसने अपनी बुद्धि को विश्वजनीन शुभेच्छा से प्रकाशित कर लिया है, (सजोष धीराः) जो आदिकरण को मालूम करने पर झुका हुआ है, वह अपनी खोज आरम्भ करता है और शनैः शनैः, पर दृढ़ता से प्रकृति की स्रोत की ओर चलता हुआ परमेश्वर पर जाकर ठहर जाता है। वहाँ, बुद्धि की जिज्ञासु और वेधक कार्य शक्तियाँ ठण्डी होकर तृप्त हो जाती हैं। और इस प्रकार पाये हुए खजाने का उपभोग करती हुई शान्त विश्राम में लेट जाती हैं। ऐसे मन के लिये इस विश्व के भिन्न-भिन्न पदार्थ क्या हैं? वे जगदीश के पदचिन्ह हैं, वे बुद्धि की दिव्य किरणों के अपने कर्म-पथ के साथ-साथ बनाए हुए निशान हैं। जैसा कि वेद मंत्र में वर्णित है। वे ठीक वैसे ही (केतवः) झण्डे, मार्ग को दिखाने

वाली बल्लियां, और घाट के निशान हैं जो एक स्वर के साथ उस (त्यम्) को दिखलाते हैं जिससे कि सारा ज्ञान (जातवेदसम्) निकला है । वह (देवम्) सनातन सूर्य है जो सदैव चमकता रहता है । उसी के कारण हम विश्व के इस महान् सर्वदिग्दर्शक चित्र को देखते हैं । (दृशे विश्वाय सूर्यम्) भौतिक ब्रह्माण्ड के सूर्य की भी यही अवस्था है । क्या तुम प्रकृति की चित्र-विचित्र वस्तुओं को देखना चाहते हो, तब अन्तरिक्ष के चमत्कारों के बीच खेलनेवाली सूर्य की रश्मियों का अध्ययन करो, और देखो कि वे तुम्हें कहाँ ले जाती हैं । वे हमें सूर्य के गोले तक ले जाती हैं । वास्तव में, जो कुछ हमें दिखाई देता है, उसका कारण यही सूर्य है, क्योंकि न केवल नक्षत्रों का उपादान ही सूर्य से निकला है प्रत्युत स्वयम् वह प्रकाश भी जो नाना वर्णों और नाना रूपों वाले भौतिक पदार्थों के अस्तित्व को हम पर प्रकाशित करता है, सूर्य को ही अपना स्रोत-उद्भव बता रहा है । तो क्या तुम फिर विश्व दर्शन करना चाहते हो ? तब ध्यानपूर्वक देखो कि विश्व तुम्हें नक्षत्र जगत के चमत्कार-सूर्य की ओर संकेत करता है । क्या तुम अपने नश्वर जीवन के दिन शाश्वत आनन्द और शान्ति के साथ भोगना चाहते हो ? तब ध्यानपूर्वक देखो कि संसार का सारा सुख-विवाह की, गृहस्थ की, पवित्र संस्था की ओर संकेत करता है । केवल इसी संस्था से पैतृक, भ्रातृक, वैवाहिक, और संतानोचित प्रेम ठण्डा होकर परितृप्त हो जाता है, संसार में सुखी सन्तान पैदा हो सकती है । वैदिक मंत्र का यही तिहरा आशय है । यह परमेश्वर को सारे कारणत्व का, सूर्य को सारे नक्षत्रजगत् और उसके वर्ण सम्बन्धी चमत्कार का और निर्मल युक्तिसंगत और आध्यात्मिक शरीर शास्त्र के आधार पर ठहरी हुई विवाह की पवित्र संस्था को पृथ्वी पर सारे सुख और आनन्द का स्रोत बताता है ।

अपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा यंत्यक्तुभिः । सूराय विश्वचक्षसे ॥

अब मैं उसी सूक्त के दूसरे मंत्र पर आता हूँ । मैं कह चुका हूँ कि इस मर्त्यलोक में आनन्द की प्राप्ति विवाह की पवित्र और स्वर्गीय विधि को ठीक तौर पर पूरा करने से ही हो सकती है । इस विषय पर यहाँ लम्बा चौड़ा लिखने का मुझे प्रयोजन नहीं । यही बतला देना अच्छा होगा कि अन्य रीति से हमारे समाज को पुनर्जीवित करने के सब यत्न निष्फल हैं । क्या तुम कभी आशा कर सकते हो कि माता-पिता के अस्वाभाविक हठ से बाधित होकर लड़का और लड़की के अस्वाभाविक आयु में किये जाने वाले वर्तमान विवाहों से वीर, स्वामी-सदृश प्रतिभाशाली सन्तान पैदा हो सकती है ? ऐसी आशा रखना असम्भव के सम्भव होने की आशा रखना है । विद्या और उपदेश, शिक्षा और संगीत मनुष्य के बाह्य चरित्र को ढाल सकते हैं, पर इनका अधिक गहरे और अधिक स्थायी चरित्र पर, पैतृक या प्रकृति विषयक चरित्र पर, जो कि हमारे

रक्त के साथ बहता है, जिसका हमने अपनी अस्थियों और नाड़ियों के साथ अपने लहू और मांस के साथ माता-पिता से प्राप्त किया है, कुछ असर नहीं होता। इसलिए, विश्वास करो कि हमारे समाज में जो खराबी हैं, उसका सच्चा औषध शरीरशास्त्र सम्बन्धी इलाज है। यह इलाज मजबूत होकर और आवेग के वशीभूत होकर किये गये व्यावहारिक विवाह के स्थान में पवित्र, युक्तिसंगत और यथार्थ विवाह की ईश्वरीय आज्ञा के पालन करने का आदेश देकर हमारे समाज के रोग की जड़ को काटता, और व्यक्ति और समाज को उनके जन्म से ही ढालने की प्रतिज्ञा करता है। अच्छा तो फिर विवाह का नियम क्या है, वह कौन-सा आचरण है जिससे समाज को स्वास्थ्य सुख की प्राप्ति हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर प्रकृति के अविनाशी ईश्वरीय नियमों में अंकित है। आकाश में तारिकाओं की सेना (नक्षत्राः) को ध्यानपूर्वक देखो। वे किस नियम का पालन कर रहे हैं? जो दृश्य-चमत्कार वे उपस्थित करते हैं उनके अनुवर्तन में क्या वे नियमनिष्ठ नहीं ? प्रत्येक २४ घण्टों के बाद यथाक्रम आकाशस्थ तारागण का रात्रि से (यत्यक्तुभिः) संयोग होता है, यथाक्रम २४ में बारह घण्टों के लिए (सूराय विश्व चक्षसे) सूर्य के सहवास से इनका वियोग होता है। विवाहित लोगों को इससे शिक्षा मिलती है। उन्हें इस पर विचार करके अपने लिये पुण्यशीलता का मार्ग निकाल लेना चाहिये। अब इस वायुमण्डल के आवरण का अध्ययन कीजिये। यह किस नियम के अधीन है? यथाक्रम प्रतिवर्ष के उपरान्त जल बरसाने वाला मानसून वायु बहता है, यथाक्रम छः मास तक हवाएँ एक ही दिशा में चलती रहती हैं। विवाहित स्त्री-पुरुष के लिये ये एक शिक्षा दे रही हैं। शिक्षा यह है कि जिस प्रकार तारामय आकाश प्रत्येक १२ घण्टों के लिये अपने-आप को सूर्य के प्रकाश से अलग कर लेता है उसी प्रकार विवाहित स्त्री-पुरुष भी दिन काल में एक दूसरे से अलग-अलग रहें। उनके लिये दूसरी शिक्षा यह है कि जिस प्रकार दिन और रात, व्यापारी हवाएँ और वर्षा लाने वाली हवाएँ अपने अनुवर्तन के नियत कालिक नियमों का पालन करती हैं वैसे ही वे भी ऋतुगामी हों। यदि इन नियमों का यत्नपूर्वक पालन किया जाये तो संसार में अपूर्व आनन्द और स्वास्थ्य का संचार हो जायगा। निवास के लिये यह पृथ्वी एक सुन्दर वाटिका बन जायेगी। मुसलमानों के बहिश्त (स्वर्ग) या ईसाइयों के नन्दनवन (पैराडाइज) से भी, (जिस में सब कहीं सोने का ही कठोर फर्श बँधा है, और कठोरता से थककर आराम लेने के लिये कोई कोमल गद्दी नहीं) अधिक मनोहर अकल्पित हो जायगी। इस स्वाभाविक, आध्यात्मिक और शरीरशास्त्र के अनुकूल विवाह के साथ उन पाशविक विवाहों की तुलना करो जो अगणित संख्या में प्रतिदिन हमारे देश में होते हैं, और जिन पर हमारे सुधारकों को न हँसी ही आती है और न ही उन्हें कभी ध्यान ही आता है। मैं अपने सदृश इन्द्रियों वाले एक जीव

को संसार में लाने से बढ़कर भारी और कोई जिम्मेदारी नहीं समझता। कितने व्यक्ति हैं जो इस उत्तरदायित्व का अनुभव करते हैं ? कितने थोड़े बच्चे हैं जिन को माता-पिता ने स्वेच्छानुसार, जान बूझकर विवेकपूर्ण पैदा किया है ? कितने बच्चे कामाग्नि, अन्ध-आवेग, आकस्मिक समागम का फल हैं ? यह बातें हमारे अनेक कोमल प्रकृति पाठकों को चाहे अश्लील मालूम हों, पर मनुष्य प्रकृति का प्रत्येक भाग पवित्र है। यह चाहता है कि प्रत्येक दिशा में इसके नियमों का पालन हो। यह किसी पंथ या व्यक्तित्व का सम्मान नहीं करता। इसलिये हमें ऋतुगामी होने का नियम सीखना चाहिये और उस सुख का अनुभव करना चाहिये जो कि इन मंत्रों में वर्णित ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार हमारे लिये रखा हुआ है।

मैं चाहता हूँ कि विवाह के इस विषय को छोड़ने से पहले अपने पाठकों के मन पर एक और सच्चाई अंकित कर दूँ। यह सच्चाई कुछ कम महत्त्व की नहीं, इस सूक्त के तीसरे मंत्र का विषय यही है। वेदों के मधुर स्वरों के सिवा और कौन-सी भाषा सच्चाई को पर्याप्त रीति से प्रकट कर सकती है। मंत्र के शब्द ये हैं :—

अदृश्रमस्य केतवो विरश्मयो जनां अनु।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥३॥

मैं असम्बद्ध विषय पर बातचीत करना नहीं चाहता, परन्तु सारी प्रकृति अनुपम है। सच्चाई सब एक ही नमूने की है। उत्क्रम के लिये क्षमा चाहता हूँ। विज्ञानियों का विश्वास है और निस्सन्देह यह विश्वास सुनिश्चित कारणों पर है कि प्रकाश और ताप दोनों एक दूसरे के सनातन सहकारी हैं। इनमें से प्रत्येक के भीतर दूसरे को आविर्भूत करने की शक्ति, सार और तत्त्व विद्यमान हैं। दोनो ही गति हैं। दोनों ही थरथराहटें हैं पर उनके कम्पन के वेग भिन्न-भिन्न हैं। कम्पन एक ही माध्यम में होते हैं। प्रकाश में प्रतिफलित होने की क्षमता है। यही बात ताप की है। प्रकाश में ध्रुविभवन का सामर्थ्य है। यही सामर्थ्य ताप में भी है। ताप पशु शरीर में जीवन को बनाए रखता है। प्रकाश वनस्पतियों के जीवन का आधार है। ताप भाप का वायुमण्डल पैदा करता है। प्रकाश भाप के बने बादलों को वर्षा के रूप में मैदानों पर गिराता है। ताप और प्रकाश प्रकृति में व्याहे हुए साथी हैं। ताप गरम हैं और प्रकाश ठण्डा और तरोताजगी देनेवाला है। ताप और प्रकाश शरीर का प्रणय और जीवन है। वे प्रकृति में एक दूसरे के साथी और (Complements) हैं। रंगों का समुज्ज्वल खेल जो प्रकाश हमें दिखाता है। वह ताप द्वारा उत्पन्न होने वाले वैसे ही महत्वपूर्ण आणविक और रसायनिक परिवर्तनों से कुछ कम अद्भुत नहीं। किसी वस्तु को गरम करके तुम उसे तापोज्ज्वल दशा में ला सकते हो यहाँ तक कि वह जलने लगती है। समीचीन उपायों से तुम प्रकाश को पकड़

कर उससे अपनी चीजें गरम करा करते हो, बल्कि, यदि जरूरत हो तो उन्हें जलवा भी सकते हो । पर देखो वे अपने साझे स्रोत, सूर्य से कैसे निकलते हैं । वे जोड़ा-जोड़ा चलते हैं । सूर्य की गर्मी देनेवाली किरणों को वेद मंत्र में भ्राजन्तो अग्नयः कहा गया है । प्रकाश निकालने वाली, रंग देने वाली चित्र विचित्र किरणों के लिये वेद मंत्र में 'रश्मयो केतवः' शब्द आया है । कैसी सुन्दरता से वे एक दूसरे के साथ मिली हुई, एक दूसरी का आलिंगन करती हुई, ये गरमी पहुँचाने वाली तथा वर्ण सम्बन्धी किरणें सूर्य से दौड़ती हैं और समुज्ज्वल अन्तरिक्ष में से करोड़ों मीलों की यात्रा के बाद पृथ्वी पर गिरकर जीवन को उष्ण और सोई हुई बुद्धि को उद्भाषित करती हैं । सगर्व विज्ञानी किरणों के इन आपस में मिले हुए आपस में गाढ़ आलिंगन किये हुए और एक दूसरे से सम्बन्ध वैवाहिक जोड़ों को भले ही आयोडीन की साफियों (फिल्टरों) और फिटकड़ी के घोलों (सोल्यूशनों) द्वारा छानकर अलग-अलग कर सकने को डींग मारें, पर उनके सम्बन्ध का पूर्ण वियोग उनका एक का दूसरे से सर्वथा पृथक् हो जाना कभी सम्भव नहीं । आओ हम इससे शिक्षा लें । वेद मंत्र हमें इस शिक्षा का आदेश करता है । यह सूर्य की ताप और प्रकाश देने वाली किरणों से (जनां अनु) वैवाहिक सम्बन्ध की शिक्षा ग्रहण करना मनुष्यों का कर्तव्य ठहराता है । यह विवाह की गाँठ को अटूट बतलाता है । विवाहित जोड़ों को चाहिए कि अपने पवित्र सम्बन्ध को अटूट और अखण्ड बनाये रखें और निरंकुश विवाहों के विपरीत मार्ग का अवलम्बन करके अपने सुख और शान्ति को निष्फल न करें । इस बन्धन को अटूट बनाये रखने से ही विधाता का संकल्प पूरा हो सकता है । सामयिक नियम के अनुसार किया हुआ एक अलंघ्य विवाह ही ईश्वरीय सत्ता के सत्य ज्ञान की प्राप्ति के समोचित है । अलंघ्यता के इसी पवित्र नियम का वेद मंत्र आदेश करता है । पर मंत्र का एक और अधिक गहरा अर्थ भी है जिसे कि हमें दृष्टि से ओझल न होने देना चाहिये । वह यह है कि ताप और प्रकाश सृष्टि के प्रत्येक भौतिक पदार्थ में प्रवेश (जनां प्रविष्टः) कर जाते हैं । जन जन्य पदार्थों का समुदाय है । हमें इस प्रतिज्ञा पर हँसना नहीं चाहिए । विज्ञान की दृढ़ फसील इसका समर्थन करती है । ताप पिण्ड के अणुओं की गति है । कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो आणविक कम्पन से सर्वथा शून्य हो । कम्पन एक व्यापक नियम है । प्रकाश आकाश (ईश्वर) की घटना है । आकाश वह स्वप्रकाश माध्यम है जिसके कम्पन से तत्त्वतः प्रकाश उत्पन्न होता है । सारे जन्य पदार्थों में क्या कोई पदार्थ है, जिसमें गति और आकाश दोनों एक ही समय से इकट्ठे नहीं रहते ? ठीक उसी प्रकार ही ईश्वरीय सार भी प्रत्येक सजीवन आत्मा के भीतर निवास करता है ।

८

आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व

मनुष्य जीवन के एक ऐसे समक्षेत्र पर रहता है। जिस के दो स्तर या दो परदे हैं। यह कोई नई और आश्चर्य की बात नहीं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि वह भौतिक और आध्यात्मिक जीवन रखता है। वैज्ञानिक लोग एक को विषयाश्रित जीवन (Objective) और दूसरे को आन्तरिक जीवन (Subjective life) का नाम देते हैं। प्रकृति के सच्चे कवि और धार्मिक पुरुष इस विषय में सहमत हैं कि हे मनुष्य ! तुझ में पशु और देवता दोनों हैं। प्राचीन संस्कृत के वेदान्तियों ने जीवन की इन दो अवस्थाओं का नाम बहिष्करण-जीवन और अन्तःकरण जीवन अर्थात् इन्द्रियों का बाह्य जीवन जीवन और बुद्धि का आन्तरिक जीवन रखा है। पर दो प्रकार के जीवन का नियम यहीं तक ही परिमित नहीं। यह एक व्यापक नियम है। इसका उपयोग सारे ब्रह्माण्ड पर होता है। प्रकृति बाह्यजीवन की सत्ता है और परमेश्वर आन्तरिक जीवन का मूल है। परमात्मा, प्रकृति और ध्यान करनेवाली आत्माओं की त्रिमूर्ति के अन्दर सारे विश्व के पदार्थ आ जाते हैं। इस प्रकार सारे संसार में दो प्रकार का जीवन है अर्थात् बाह्य और आन्तरिक।

जीवन के बाह्य पृष्ठ का थोड़ा बहुत सबको ज्ञान है। पर आन्तरिक वा आध्यात्मिक जीवन बहुतों के लिये एक कठिन समस्या है। आन्तरिक जीवन आध्यात्मिक होने के कारण मानो पद्य है, और बाह्य भौतिक होने के कारण, गद्य है। यह स्पष्ट है कि बहुत से लोग पद्य को काल्पनिक विचारों का व्यर्थ प्रकाश ही समझा करते हैं। इसीलिए उनकी समझ में प्रकृति और उसके असंख्य नश्वर विशेषण ही अकेले तत्त्व और वास्तविक परमात्मा हैं।

"संसार की शक्तियाँ और माण्डलिक राज्य, बहुत से मनुष्यों को कविता और सनातन नियमों की संगति से पृथक् कर देते हैं। प्रकृति एक प्रबल और शासक परमेश्वर है। हम में से लाखों के लिये जो मनुष्यत्व का दम भरते हैं वह अन्धकार की रानी है।" प्रकृति मनुष्य के आन्तरिक जीवन के साथ चिमट कर जम जाती है। मनुष्य हिण्डोले से लेकर श्मशान भूमि तक अपनी संकटजनक समुद्र यात्रा में निर्जीव प्रकृति के बोझ को उठाता है। मनुष्यों के प्रकृति के मन्दिर में पूजा करने की आवश्यकता होती है। वे इसे पूर्ण प्रयत्न और आध्यात्मिक चिन्तन का मुख्योपद्देश्य बना लेते हैं। सहस्रों लोग प्रकृति

की अविरत रीति से पूजा करते हैं। वे इसकी वेदी के सामने प्रणाम करते हैं। उसके आगे बहुत सी भेंट चढ़ाते हैं, और प्रत्येक पदार्थ से जिसके देने की शक्ति मनुष्य में है—वैज्ञानिक कलाओं से, प्रतिभा के कामों से श्रेष्ठ क्षमताओं के विकास से, प्रत्येक वस्तु यहां तक कि जीवन से—उसके मन्दिर को ढक देते हैं।

लक्ष्मी प्रकृति की सेविका मात्र है। प्रकृति मन की केवल दासी है और मन आत्मा का नौकर मात्र है। पर इस दुनिया में यह अवस्था है कि आत्मा, मन और प्रकृति तीनों लक्ष्मी के चरण सेवक हैं। कोई मानुषी आत्मा अपनी भौतिक परिस्थितियों से स्वतन्त्र नहीं है। हमारा जीवन प्रकृति की वास्तविक दासता है। प्रकृति मन का बंदिपाल (जेलर) है। आवश्यकता दारोगा की है जो कैदी को चाबुक मार कर उससे दैनिक काम कराता है।

यह है प्रकृति की आज्ञा जिसके पालन में अर्थात् पदार्थों के देखने, फलों के चखने, सुगन्धियों के सूँघने, अनुभवों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने और शब्दों के सुनने में मन सांसारिक काल का ९।१० भाग व्यय कर देता है। इस प्रकार आत्मा अपने जेल खाने की सलाखदार खिड़कियों में होकर देखता और जीवन व्यतीत करता है।

जब यह अवस्था है तो फिर इन्द्रियों के जीवन में डूबा हुआ मनुष्य आध्यात्मिक जीवन के आन्तरिक तत्त्वों को कैसे जान सकता है? प्रकृति मृत्यु आत्मा का जन्म है। प्रकाश और अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते।

अन्य देवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्वि च चक्षिरे ।।१।।

यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का दसवाँ मंत्र है। इस का अर्थ यह है "इन्द्रियों का जीवन (अविद्या) एक परिणाम पैदा करता है और आत्मा का जीवन (विद्या) उसके सर्वथा विपरीत परिणाम पैदा करता है।"

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

"इन्द्रियों का जीवन आध्यात्मिक मृत्यु है। आत्मा का जीवन नया जन्म अर्थात् अमर जीवन है।"

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखं।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये ।।१५।।

इसी अध्याय का यह पन्द्रहवाँ मंत्र है। इसका अर्थ यह है :—

"सच्चाई का समुज्ज्वलमुख लक्ष्मी के चमकदार आवरण से ढका हुआ है"—"हिरणमयेन पात्रेण अपिहित" हे विश्व के रक्षक! इस आवरण को हटा दें, जिससे हम अनश्वर सत्य का दर्शन कर सकें। हाँ, दिव्य प्रकाश का दर्शन

करने के लिये यह आवश्यक है कि पहले आवरण को दूर कर दिया जाय और मनुष्य के पशुभावों को कुचल डाला जाय ।

यह विश्व ब्रह्माण्ड, इसके सौन्दर्य व्यवस्था, और स्वरसंवाद एक प्रकृति के पिंजरे में बन्द मूढ़ मनुष्य के लिये कुछ नहीं । समुज्ज्वल आकाश और उसके संख्यातीत सौर जगत् और तारा जगत् भौतिक आवश्यकताओं के आयाम के कारण झुकी हुई आत्मा के लिए तुच्छ है । व्योम के भारी गोले तत्त्वदर्शी के उन्नत मन को इतना आकर्षित करते हैं किन्तु उस व्यक्ति के लिये कुछ भी नहीं जिसने लाभ को ही परमदेव मान रखा है । प्रकृति और लक्ष्मी उसे दोनों ओर से घेर लेती हैं । वह अपनी परिस्थितियों के अन्दर चक्कर लगाती है और वे उसके अन्दर चक्कर लगाते हैं । इस प्रकार उसका दैनिक जीवन नियत समय की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है ।

स्वर्गीय सत्य का सुन्दर आकाश, संसारी मनुष्य को कदापि नहीं ढाँपता । ऐसी अवस्थाओं में विश्वास असम्भव है । संशय, हाँ संशय ही एक ऐसा प्रधान कर्मचारी है जो जीवित रहता और बढ़ता फूलता है । ऐसी अनस्थाओं में और क्या सम्भव है ? ऐसी अवस्था में मन का आत्मा को शान्ति देने वाले तत्वज्ञान की तलाश करना निष्फल है । क्योंकि प्रकृति का संसार अर्थात् विरोध का चक्र ही दृष्टिगोचर होता है । विश्वव्यापी की सब कहीं सर्वज्ञ बुद्धि (परमेश्वर) का कहीं पता नहीं मिलता । संशय रूपी राज कर्मचारी की काना-फूसियाँ बहुत निर्विकल्प हैं । क्या यह नहीं कहा गया है कि ढूँढ़ने से परमेश्वर को कोई नहीं पा सकता है ?'' और यह बात सत्य नहीं है कि परमेश्वर के अतीव दृढ़ विश्वासी भी यह मानते हैं कि उनका यह केवल विश्वास ही विश्वास है । वास्तव में ये इस विषय में कुछ नहीं जानते । ये सब संशय की काना-फूसियाँ हैं । परन्तु यह जीवन का प्रधानमंत्री, यह संशयात्मक कर्मचारी अपने अन्वेषणों को यहीं पर समाप्त नहीं कर देता । वह सम्पूर्ण है । वह भौतिक जगत् के अन्दर प्रवेश करता है । विद्यार्थी से पूछता है कि क्या वे रहस्य का उद्घाटन कर सकते हैं ? उसकी जिज्ञासा का परिणाम यह है—

भूगर्भविद्या पृथिवी का, और कोयले, पत्थर, और सारे खनिज पदार्थों के भिन्न-भिन्न स्तरों की रचना का वर्णन करती है । वह चिरकाल के नष्ट हुए जन्तुओं के चिह्नों और ठठरियों को प्रकट करती है, पर हमको कोई ऐसा सूत्र नहीं बताती जिस से हम परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर सकें ।''

''जीवविद्या हमें प्रायः पशु-जगत् का, और भिन्न-भिन्न सेन्द्रिय-जीव-जन्तुओं विविध जातियों की शक्तियों और रचनाओं का ज्ञान प्रदान करती है ।''

''शरीर-धर्म-विद्या मनुष्य प्रकृति की. मनष्य की सत्ता को सुप्रबन्ध में

रखने वाले नियमों की, प्राणभूत इन्द्रियों के व्यापारों की और उन स्थितियों की जिन पर ही कि जीवन और स्वास्थ्य का दारोमदार है, शिक्षा देती है।''

''मस्तिष्क-विद्या मन सम्बन्धी नियमों, मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों, स्वभाव और इन्द्रियों का वर्णन करती है। वह यह भी बताती है कि एक अच्छी सुस्थ अवस्था प्राप्त करने के लिये किस प्रकार किस इन्द्रिय को उन्नत करना और किस को दमन करना चाहिए। यद्यपि सारे पशु प्रबन्ध में मस्तिष्क एक ऐसा सूक्ष्म जगत् समझा जाता है जिसमें कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के साथ सम्बन्ध या सादृश्य का पता चल सकता है, परन्तु इस में भी कोई विन्दु ऐसा नहीं मिलता जो परमेश्वर के अस्तित्व को प्रकट करता हो।''

''गणित सारी शुद्ध विद्याओं की नींव को प्रतिष्ठित करता है। यह संख्याओं को जोड़ना, दूरियों का अन्दाजा लगाना और उन को मापना सिखाता है। यह बताता है कि पर्वतों के तोल और समुद्र की गहराइयों के माप सम्बन्धी प्रश्नों को कैसे हल करना चाहिये। पर हमें ऐसी कोई विधि नहीं बताता जिससे ईश्वरीय सत्ता की जाँच हो सके।''

''यदि आप प्रकृति की बड़ी प्रयोगशाला-रसायन विद्या में प्रवेश करें तो वह आप को विविध प्रकार के मूल द्रव्यों और उन गैसों (वायु) के संयोग और उपयोग का हाल बतायेगी जो नित्य विकसित और भिन्न-भिन्न प्रमाणों में संयुक्त होकर नानारूप वस्तुएँ और हमें दिखाई देने वाले मनोरञ्जक और प्रयोजनीय दृश्य-चमत्कार उत्पन्न करती है। यह द्रव्य के अकरत्व और उसके अन्तर्निरूढ़ गुण गति को प्रमाणित करती है। पर उसके निखिल कार्यों में कोई भी उपपादनीय वस्तु ऐसी नहीं मिलती जो जगदीश्वर के अस्तित्व को बतलाती हो।''

''नक्षत्र-विद्या हमें सौर जगत् के चमत्कारों का सदा घूमने वाले लोकों उनकी गतियों के वेग और नियमों, एक तारे से दूसरे तारे तक और एक लोक से दूसरे लोक तक अन्तर का हाल बताती है। यह आश्चर्यजनक और विस्मयोत्पादक यथार्थता के साथ ग्रहणों के दृश्य-चमत्कारों और हमारी पृथ्वी पर पुच्छल तारों के दिखाई देने के पहले से ही बता देती है। यह गुरुत्वाकर्षण के अविकार्य नियम को सिद्ध करती है। पर परमात्मा के अस्तित्व के विषय में वह सर्वथा चुप है।''

अन्ततः आप पृथ्वी के पेट में घुस जाइये। वह आपको ज्ञात हो जायेगा। सागर की गहराइयों में डुबकी लगाइए। वहाँ आप को सागर निवासी मिलेंगे। पर आप को उसके अस्तित्व का ज्ञान न ही ऊपर पृथ्वी पर और न ही नीचे सागर में प्राप्त हो सकता है। ऊपर आकाश में चढ़िये और आकाश

गंगा में प्रवेश कीजिये । एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र तक दूर से दूर तारे में जाइए । सदा घूमने वाली प्रणालियों से पूछिए कि परमेश्वर कहाँ हैं ? प्रतिध्वनि उत्तर देती है—कहाँ ?''

''प्रकृति का विश्वब्रह्माण्ड उसके अस्तित्व का कोई निशान नहीं देता । तो फिर हम उसे कहाँ ढूँढ़े । क्या मानसिक जगत् में उसकी खोज करें ? लाखों पुस्तकें जो इस विषय पर लिखी जा चुकी हैं, उन को पढ़ जाइए । सारे विमर्शों, प्रतिज्ञाओं, प्रमेयों, कल्पनाओं और मनों में मनुष्य ने प्रत्येक पृष्ठ पर अपनी बुद्धि का अमिट अंक अंकित कर दिया है । मानव-लेख अधिक से अधिक, मनुज चरित्र के आलेख्य, मानवीय मान के रूप और मनुष्य के अस्तित्व की तस्वीरें हैं । पर ईश्वर कहाँ है ?

''अपने चारों ओर ध्यानपूर्वक देख लो, और मान लो कि चेतना, कल्पना (सृष्टि का प्रबन्ध) और फलतः परिकल्पक के विषय में कोई साक्षी नहीं मिलती । चेतना क्या है ? यह स्वयं कोई वस्तु कोई पिण्ड या कोई सत्ता नहीं । यह केवल प्रकृति का एक विशेष गुण है जो अपने आपको सेन्द्रिय जीव-जन्तुओं के द्वारा प्रकट करता है ।''

अच्छा तो ये सन्देह के इशारे और अविश्वास की काना-फूंसियाँ हैं । ये इन्द्रियों के जीवन, प्रकृति में निवास, लक्ष्मी की पूजा और सर्वशक्तिमान परमाणुओं में श्रद्धा यथार्थ कार्य हैं ।

इस प्रकार परमात्मा कैसे जाना जा सकता है । भूगर्भ-विद्या, शरीर धर्म-विद्या, शरीरव्यवच्छेद-विद्या, मस्तिष्क-विद्या, गणित, रसायन और नक्षत्र विद्या सब की सब केवल स्थूल विकास और बाहर का गूदा है । उन का सम्बन्ध केवल उन्हीं पदार्थों से है जो छूए जा सकते हैं, जो देखे जा सकते हैं, जो सुने जा सकते हैं, जो चखे जा सकते हैं और जिनका कण्ठ से उच्चारण हो सकता है । परन्तु सर्वान्तरात्मा परमेश्वर इन्द्रियगोचर पदार्थों से परे 'नैनदेवा आप्नुवन् तद्धावतो न्यानत्येति' और इन्द्रियों के नश्वर, जंगल और परिवर्तनशील दृश्य-चमत्कारों से बहुत दूर है । क्या आप पृथ्वी के भीतर उतरते हैं, आकाश पर चढ़ते हैं, और विश्वात्मा का स्थान ढूँढ़ने के लिए विश्व ब्रह्माण्ड को छान मारते हैं ?

तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

य०अ० ४०, म० ५॥

वह दूर से भी दूर है क्योंकि भौतिक इन्द्रियाँ उसका अनुभव नहीं कर सकतीं । वह निकट से भी निकट है क्योंकि वह सबसे अधिक भीतर है । परन्तु बाह्य पूजकों से वह छिपा रहता है ।

आत्मा के अन्दर परमात्मा के प्रकाश का नियम एक आन्तरिक एकतानता है । प्रकृति की आँधी भीतर की व्यवस्था में बाधा देती है। **एकाग्रता, ध्यान, मानसिक शान्ति और प्रत्याहार ही केवल ऐसे साधन हैं जिनसे ईश्वर सिद्धि हो सकती है ।**

जब अपनी महान् अजय दशा पर गर्व करने वाला आप ही सबसे अधिक भेद्य है, जब अपनी वीरता पर अभिमान करने वाला आप ही सब से अधिक कायर है, जब दूसरों को सत्य का उपदेश देने वाला आप ही सबसे अधिक झूठा है ; जब अपने आपको किसी दल का नेता बनाने वाला आप ही पथभ्रष्ट है, जब अपने को निष्कपट नागरिक कहने वाला हताश मनुष्यों की दैनिक मजूरी में से उड़ाए हुए भारी लाभों पर जीता है, जब अपने व्यवसाय को मान्य बताने वाला दूसरों के कूटकरण, अन्याय और व्यावहारिक सूक्ष्मता की लेन देन से अपनी जेबों को भरता है, जब अपने आपको संभ्रान्त वैद्य, शरीर का परोपकारी चिकित्सक प्रकट करनेवाला अपने रोगियों की धन दिलाने वाला तन्दुरुस्ती में ही दिलचस्पी लेता है, जब वेदी पर उपदेश देते समय आत्मा को शान्ति प्रदान करने वाला अपने मत के शत्रुओं को कोसते समय अपवित्र हो जाता है, जब विचार की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता पर बातें करने वाला राज्य लोकमत, या धार्मिक सम्प्रदाय को आज्ञा देता है कि वे उस व्यक्ति के मुँह को बन्द कर दें जिसकी आत्मा स्वभाव से ही स्वतन्त्र है, जब अपने सिद्धान्त, अपनी नीति या अपनी दानशीलता की प्रतियोगिता के लिए संसार को ललकारने वाला, स्वयं एकान्त में किसी विशेष प्रश्न के प्रकाश, कर्म के किसी विशेष भाग की रक्षा, या किसी विशेषदान के देने में संकोच करता है तो क्या वह अन्तरात्मा के साथ कोई मेल या एकतानता रखता या रख सकता है ? तब फिर कैसे आशा करते हो कि वह भद्र, पवित्र, निर्मल और देवत्व के देवज्ञान से भरा पूरा हो सकता है ।

जब तक ''जिसकी लाठी उसकी भैंस'' का सिद्धान्त समझा जाता है, पशु बल से प्रेम का काम कराया जाता है, मूर्खता बुद्धिमत्ता के भावों की प्रतिनिधि बनाई जाती है, दम्भ निर्दोष साधुता की अपेक्षा अधिक प्रचलित है, धनवान् पाप की निर्धन पुण्य से अधिक अभिलाषा की जाती है और उसे अधिक सहन किया जाता है । तब तक रोगों, अपराधों और विपत्तियों का नाश कैसे हो सकता है, या शान्ति, उन्नति और सुख कैसे फैल सकते हैं ? इसी कारण मनुष्य अनन्त अविद्या में दुष्प्राप्य पाण्डित्य रखने का अभिमान करता है । वह विज्ञान की तिरछी किरणों में एक न उदय हुए सूर्य की सम्पूर्ण सत्य की पूर्ण प्रभा की नाईं प्रशंसा करता है ।

आन्तरिक जीवन के इन दुःखों ने विचारकों के ध्यान को अपनी ओर खींचा है, धार्मिक गम्भीर लोगों ने इन लोगों को बताया है और जैसा कि शारीरिक विरोधों और भौतिक लोगों की दशा में विरोध है, ऐसी पेटेन्ट (सर्वविदित) औषधियाँ निकाली गई हैं, जिनके विषय में यह माना हुआ है कि वे लोगों की शान्ति, समाज के सुधार और व्यक्तियों का शोषण करेंगी। ऐसी पेटेन्ट औषधियाँ बेचनेवालों का एक सम्प्रदाय ऐसे रोगों के लिए "प्रार्थना" को सब से अच्छा और जल्दी असर करने वाला विरेचक बताता है और मनुष्यों और व्यक्तियों को प्रार्थना रूपी औषध की बड़ी-२ मात्रा रात दिन सेवन करने का उपदेश करता है। इस प्रकार विकृत घटना उत्पन्न स्थिर और प्रोत्साहित की जा रही है और नश्वर आध्यात्मिक शक्ति के दुर्बल और मूर्छित कर देने वाले प्रभाव को भूल से प्रार्थना का शुद्ध करने वाला परिणाम समझा जा रहा है, सबसे प्रथम विरोध रोग और क्लेश स्पष्ट पाप है। "प्रार्थना" की उन्नति के साथ-साथ प्रार्थना करने वाली आत्मा उनको सहन करना सिखाती है, इसके उपरान्त वह इनको अपने आत्मा-निग्रह में यात्रा की धूलि के सदृश ख्याल करती है। अन्ततः वह इन सबसे दबकर मूर्छित हो जाता है। इसको वह अपने मन की शान्ति मान लेती है। इसे वह आनन्द, मुक्ति और आत्मा में परमात्मा की विद्यमानता ख्याल करती है। इसके साथ प्राणभूत शक्ति क्षीण होने लगती है। इसे वह अपने भीतर की पशुवृत्ति की मृत्यु समझता है। यह पेटेन्ट औषध केवल आवेगों की अग्नि, अपरितुष्ट कामनाओं की चिंगारी, अप्राप्त प्रयोजनों का सुलगा हुआ कोयला, मतभेद की गरमी, और झण्डे के जोश और उधार है मन की स्थिरता, और उसके पीछे होने वाली मूर्च्छा बुद्धि मृत्यु है, जिसकी राख पर लालसा, शोक, वेदना, आनन्दोन्माद और अन्य अनियमों की भाप उबलती खौलती है। पर ईश्वरीय प्रकाश का सच्चा आगमन बुद्धि के विस्तार और जीवन शक्ति की वृद्धि के साथ होता है। उसके उपरान्त प्रकृत सहजज्ञान का उदय होता है। हमें बाह्य चिह्नों को भूल से आन्तरिक चिह्न न समझ लेना चाहिये। प्रत्येक चमकने वाली वस्तु स्वर्ण नहीं होती। वास्तव में, बाह्य रूप धोखा देने वाला होता है, अदृश्य ही यथार्थ है। अदृश्य की खोज परमेश्वर की सच्ची खोज है, उनकी उपलब्धि और उसको अपनाना जीवन की उत्पत्ति और आत्मा की अमरता है अतएव निश्चय ही, मैं अदृश्य को दृश्य से अच्छा समझता हूँ।

मेरे आशय को अधिक स्पष्टता से समझने के लिये इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शरीर एक रूप है, अनित्य है, अपरिवर्तनशील है। पर

आन्तरिक परिवर्तनशील नहीं। मनुष्य आन्तरिक है, आकार या कार्य बाह्य हैं। आत्मा पर क्रिया नहीं की जाती, पर आत्मा शरीर पर क्रिया करती है जो आन्तरिक है वही तत्त्व है, जिस पर यह क्रिया करती है वह दृश्य और अनित्य है। सभी बाह्यरूप इसी नश्वर (इस परिभाषा के परिमित अर्थ में नश्वर) उपादान से बने हैं।

अब इस बात के स्पष्ट हो जाने के कारण कि दृश्य वास्तविक नहीं, पर अदृश्य ही सनातन है, यह परिणाम निकलता है कि हम परीक्षा करें कि सच्चाई एक अतीन्द्रिय परन्तु अपरिवर्तनीय और सनातन नियम में है। यहाँ तक मानकर तुम इस योग्य हो गए हो कि सम्भव सम्भावनाओं के अनुसन्धान के एक पग आगे बढ़ सको। कार्यों को देख कर उनका एक आसान कारण ढूँढा गया है। यह बात एक कठिन और सूक्ष्म व्यवच्छेद द्वारा प्रमाणित हुई है। अमुक कारण अमुक कार्य उत्पन्न करता है, इससे यह विदित होता है कि कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता। यह कार्य एक, और कार्य, और फिर यह वह आगे एक और कार्य पैदा करता है, इस प्रकार उपमित से तुम देख सकते हो कि कार्यों का, और कार्यो के कारणों की संख्या अगणित और अनन्त है। कारणों से कार्यों का, और कार्यों से कारणों का पता लगाना विचार की शुद्ध रीति है। यह विचार तुम अपनी कल्पना में आगे से आगे करते जाते हो। यहाँ तक कि तुम अस्तित्व की भूतप्रलय तक पहुँच जाते हो। जब तुम प्राणहीन होकर ठहर जाते हो और पूछने लगते हो कि आदि कारण का कारण क्या था? तुम्हें ये पदचिह्न शून्य परिभ्रमण कदापि न करने पड़ते। यदि तुम इन सब रूपों और बाह्य पदार्थों के विषय में यह समझ लेते कि ये कारण नहीं प्रत्युत कार्य हैं। हम इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

कल्पना कीजिये कि इस कठिन पृथ्वी तल के नीचे एक बीज छिपा हुआ है। मान लीजिये तुम उसके अस्तित्व को भूल गये हो। कुछ वर्ष बीत जाते हैं, तुम उस स्थान पर दृष्टिपात करते हो जहाँ कि वह बीज छिपा हुआ था। अब तुम एक उच्च और सुन्दर पेड़ को अपनी प्रकृति की सारी विभूति और प्रभाव के साथ खड़ा देखते हो। क्या उस अस्तित्व से इन्कार करना ऐसा ही सम्भव और असंगत न होगा जैसा कि थोड़ी देर के लिये उस बीज से इन्कार करना जिससे कि यह अस्तित्व उत्पन्न हुआ है? पेड़ खड़ा है और अन्तिम परिणाम के रूप में प्रकट है। मनुष्य खड़ा है और वह भी अन्तिम कार्य है। पेड़ के बीज के अस्तित्व का तुम्हें ज्ञान था, पर ब्रह्माण्ड के बीज का तुम्हें पता नहीं। परन्तु क्या यह बात प्रत्यक्ष नहीं कि पिछली बात कम से कम सम्भव

है। क्योंकि पहली ज्ञात और प्रमाणित हो चुकी है ? केवल इस सम्भावना को मान लेने से हम इस अनुसन्धान में एक और पग अधिक सावधान होकर उठाने के लिये उद्यत हो जाते हैं।

जो दूसरा पग उठाना है उसको हम एक और उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। मान लीजिए कि एक मनुष्य रोग ग्रस्त है। वैद्य लोग रोग के शरीर धर्म-विद्या सम्बन्धी चिह्नों और वेदनाओं से जो कि रोग से पैदा होती हैं और जिन को वे बाह्य अवलोकन की किसी भी रीति से इन्द्रियगोचर नहीं कर सकते, रोगी की व्याधि की जाँच करते हैं। रोगी अपने दुःखों का वर्णन करता है। वैद्य रोगी के बयान को मानकर उस बयान तथा बाह्य चिह्नों के अनुसार रोग के नाम का निश्चय करते हैं। प्रत्येक वैद्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुई साक्षी के कारण व्याधि के रूप के विषय में दूसरों से भिन्न सम्मति प्रकट करता है। क्या आपको यहाँ इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि जो बाह्य जो प्रकट है वह कार्य है और उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। परन्तु कारण गुप्त है और तुम्हारे पास ऐसा कोई साधन नहीं जिससे उसके कारण का अनुसन्धान हो सके ?

और लीजिये, एक मनुष्य का एक दाँत सड़ा हुआ है। वह कहता है कि मेरे असह्य पीड़ा हो रही है, परन्तु आप उसके कथन में संदेह करते हैं और प्रमाण माँगते हैं। वह तुम्हें दाँत की ओर संकेत करता है। यह दांत एक स्पर्शनीय वस्तु है। परन्तु क्या वह साक्षी, जिसको आपकी इन्द्रियाँ स्वीकार करती हैं, आपको विश्वास दिलाती है कि उसके पीड़ा हो रही है ?

एक और उदाहरण लीजिये। संसार की सारी मनुष्यजाति अपनी संयुक्त साक्षियाँ दे सकती है कि वह सुनिश्चित और पूर्ण रीति से सूर्य को पूर्व में उदय और पश्चिम में अस्त होते देखती है। क्या इस बात की कोई आन्तरिक साक्षी नहीं कि इसका बाह्य और प्रकट निश्चय झूठा है ? सच्चाई की अन्तवर्ती खोज ने इस दृश्य चमत्कार का कारण प्रतिष्ठित कर दिया है और प्रमाणित कर दिया है कि सूर्य नहीं घूमता। परन्तु तुम्हें दृश्य और बाह्य से ही धोखा हुआ है, आन्तरिक से नहीं जो कि सच्चाई है।

अतएव प्रकृति का सच्चा विद्यार्थी दृश्य में अदृश्य का ध्यान करता है और मानव अस्तित्व के इस रंगमंच को पैदा करनेवाले कारण का प्रकृति की पीठ पर चुपचाप चिन्तन करता है और उन सच्चाइयों का, जो कि उसके अन्दर मौजूद हैं भारी आदर करता हुआ कार्यशक्ति और जीवन के आदि कारण के साथ संयुक्त हो जाता है। उसकी आकांक्षाओं का रूप बिल्कुल आध्यात्मिक

या नैतिक हो जाता है । वह इस बात का अनुभव कर लेता है कि सारा का सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु का है । विश्व का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो उस प्रभु का न हो ।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् । यजु० अ० ४० मं० १॥

उसकी निर्मल बुद्धि के लिए जो कि विकार और घृणा से रहित हो गई है । भक्ति और ध्यान, विश्वास और मन की स्थिरता रास्ता खोल देती है । वहाँ से ज्ञान की किरणें मन्द-मन्द प्रवेश करती हुई उसकी बुद्धि तथा भावों पर स्निग्ध और रुचिर प्रभाव डालती हैं । उसने उस सच्चे मुक्तिदाता, अदृश्य स्वामी को पा लिया है जिसमें कि सारे विषय की स्थिति है । उसके निकट आन्तरिक ही प्रकृत है । उसकी विस्तृत बुद्धि कपड़ों से गुजर कर उस तक पहुँचती है जो कि मूल है । वह शरीर के भीतर आत्मा तक, नियम में जीवन तक, वस्तु के अन्दर विज्ञान तक पहुँचता है ।

ऊपर के लेख का सारांश यह है कि विस्तृत बुद्धि ही ईश्वरीय तत्त्व की सिद्धि के लिए आत्मा को ऊँचा उठा सकती है, प्रार्थना यह काम नहीं कर सकती, अपने आपको उन प्रत्यादेशों के पात्र बनाने के लिए, जो कि सारे ज्ञान के मूल स्रोत से बुद्धि में आते हैं, धार्मिक आयास ही हमारी सबसे अधिक मर्मस्पर्शी प्रार्थना है ।

अपने विचारों के इस अधूरे आलेख्य से जो शीघ्रता में आपके सामने उपस्थित किया गया है मेरा उद्देश्य यह है कि यह तीन सिद्धान्त प्रतिष्ठित और स्पष्ट मिल जाएँ ।

१. आध्यात्मिक जीवन ही प्रकृत जीवन है । संसार के संक्षोभों के प्रतिबन्धनों में फँसा हुआ मनुष्य सार्वत्रिक सच्चाई को पूरी तरह से देख और समझ नहीं सकता ।

२. इस सार्वत्रिक सच्चाई को, जो कि विस्तृत बुद्धि या निर्मल विवेक के द्वारा जानी जाती है, जानने में असमर्थ होने के कारण ही प्रार्थना की पेटण्ट धार्मिक चिकित्सा और अश्रुपूर्ण मस्तिष्क-उपशम निकाले गये हैं ।

३. ब्रह्माण्ड का प्रकृत रचयिता एक अदृश्य, प्रतापी, व्यापक और इस आध्यात्मिक जगत् का सर्वशासक तत्त्व है ।

●

९

धन का डाह

इस लेख में इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि ''सांसारिक धन का कमाना कहाँ तक एक उचित और मनोरंजक काम है ।'' मनुजी महाराज अध्याय २ श्लोक-१३ में कहते हैं :—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।।

जो लोग सांसारिक धन दौलत और विषय सुख में फंसे हुए नहीं हैं केवल वही सत्य धर्म का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । जो व्यक्ति इस उद्देश्य को प्राप्त किया चाहता है उसका कर्त्तव्य है कि वह वेद की सहायता से सत्य धर्म का निर्णय करे, क्योंकि वेदों की बिल्कुल सहायता न लेने से सत्य धर्म का स्पष्ट और पूर्ण निरूपण हो नहीं सकता ।

ऊपर दिये गये श्लोक में मनुजी तीन सिद्धान्त प्रतिष्ठित करते हैं । पहला, कि अर्थ (धन) की तलाश सत्य धर्म के ज्ञान की प्राप्ति में बाधा देती है, दूसरे काम (विषयसुख) की तलाश भी उसकी प्राप्ति के विरुद्ध है और अन्ततः जो लोग सत्य धर्म का निर्णय करना चाहते हैं उनके लिये वेदों का अध्ययन आवश्यक है ।

मनुजी की पहली और दूसरी प्रतिज्ञा को एक ही माना जा सकता है क्योंकि प्रायः हालतों में विषयसुख की तलाश धन की तलाश के साथ ऐसी सम्बद्ध होती है कि जब तक धन की अपरिमित राशि पहले से ही मौजूद न हो विषयसुख की परितृप्ति प्रायः असम्भव होती है । इसलिये हम मनुजी के पहले आधे श्लोक का आशय यह लेते हैं कि धन की अपरिमित तलाश करने से धर्म का सत्य ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । यही इस वर्तमान लेख का विषय है । इस श्लोक के दूसरे भाग पर हम किसी और समय विचार करेंगे ।

यदि मनुजी इस वर्तमान उन्नीसवीं शताब्दी में, जिस शताब्दी में कि चारों ओर से जीवित रहने के लिये शुद्ध या ''योग्यतमस्य उद्वर्तन'' की ध्वनि आ रही है, जो ध्वनि यह कहती है कि धन, या माल, या द्रव्य के रूप में कुछ व्यावहारिक कार्य किया जाय—जीवित होते

तो उनका अपने ऊपर लिखे श्लोक के प्रथम भाग में प्रतिष्ठित प्रतिज्ञा का जनता में विघोषित करना एक भारी साहस और वीरता का काम होता, क्योंकि इसका वास्तविक अर्थ यह होगा कि वर्तमान काल के धन की व्यावहारिक तलाश में निमग्न मनुष्य निर्मल धर्म की सच्चाइयों को समझने के अयोग्य है । निस्सन्देह मनुजी का यह वचन बहुव्यापक और अपमान जनक देख पड़ता है । फिर भी इसमें झूठ रत्ती भर नहीं है। क्योंकि धर्म की ज्योति केवल एकाग्रता, योग, मानसिक शान्ति और ध्यान की भूमि पर ही उदय होती है । धन कमाने की सिर तोड़ कोशिश, जिसमें कि आधुनिक व्यावहारिक संसार सिर से पैर तक डूबा हुआ है, इन मानसिक स्थितियों की वृद्धि के लिये ऐसी हानिकारक है कि मग्न व्यावहारिक संसार के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वह सच्चाई, धर्म और उच्चतर मनुष्य—प्रकृति के निमित्त अपनी वर्तमान अवस्था पर पुनर्विचार करे और स्पर्धा प्रतियोगिता और उच्चाकांक्षा, के प्रबल नियमों के कारण पैदा होने वाले परिश्रम में कूद पड़ने के पहले एक बार इस पर विचार कर ले । यह सच है कि भौतिक उन्नति के लिये इन प्रबल उत्तेजनों के प्रोत्साहन से मनुष्य सच्चाई के प्रति अपने उच्च कर्त्तव्यों को भूल गया है । इसलिये यह सर्वथा सत्य है कि बड़े-बड़े नामी विज्ञान विशारद भी इस प्रवृत्ति के भयानक और लज्जाजनक परिणामों का अनुभव करने लगे हैं । देखिये कर्नल विश्वविद्यालय के प्रधान डाक्टर ह्वायट महाशय यों लिखते हैं—

"जब कोई कपट या दौरात्म्य प्रकाश में आता है तो हम बहुत भड़क उठते हैं, और समय की खराबी पर रोना पीटना आरम्भ होता है । परन्तु मेरे मित्रो ! ये कपट और दौरात्म्य समय की खराबियाँ नहीं हैं । ये नागरिक समाज के उपरितल पर निकले हुए केवल फफोले हैं । परमात्मा का धन्यवाद है कि उनको निकाल कर उपरितल पर फेंक देने के लिये अभी काफी जीवन शक्ति मौजूद है । रोग सबके नीचे प्रबल रूप से फैल रहा है ।

वह रोग क्या है ? मेरा विश्वास है कि यह सबसे पहले सच्चाई को सच्चाई स्वीकार करने में उदासीनता है, दूसरे संशय, इससे मेरा अभिप्राय इस या उस मत को स्वीकार करने में अयोग्यता से नहीं, प्रत्युत उस संशय से है जो इस बात को मानने से इन्कार करता है कि संसार में कोई ऐसी प्रबल, विशाल और पुण्यमय शक्ति है जिसके बिना कि हम सत्य को कदापि नहीं पा सकते । तीसरे नास्तिकता, इससे मेरा अभिप्राय इस या उस प्रधान कर्म के प्रति

भक्ति के अभाव से नहीं, प्रत्युत उसके प्रति भक्ति के अभाव से है जो कि सब धर्मों का आधार है, अर्थात् यह भाव कि पवित्र और पुण्यमय सब कहीं एक समान है और अन्ततः जड़वाद, जिससे मेरा अभिप्राय ब्रह्माण्ड की इस या उस वैज्ञानिक कल्पना (थ्यूरी) से नहीं, बल्कि पुण्य के केवल बाह्य छिलके और भूसे के प्रति भक्ति से, स्थान और धन के लिये उस संग्राम से, केवल भौतिक सुख और सम्पत्ति के प्रति उस श्रद्धा से जो कि मानव-हृदय से सारी देश प्रीति को नष्ट कर देती है और जो कि उस भाव के अत्यन्त प्रतिकूल है जिससे वैज्ञानिक साधन को बल मिलता है।'' X

पाठक, यह एक नामी विज्ञान शास्त्री की राय है कि समाज चार घातक रोगों, अर्थात् उदासीनता, संशय, नास्तिकता, और जड़वाद से पीड़ित है। यह स्पष्ट ही है कि इन सब का कारण प्रबल प्रकृति और लक्ष्मी की रिवाजी पूजा है। उत्साहशील पाठक के चित्तपट पर यह सच्चाई अधिक सुगमता से अंकित करने के उद्देश्य से आओ हम वकीलों, वैद्यों, साहूकारों, वणिकों, इन्जीनियरों, ठेकेदारों, पादरियों, अध्यापकों, क्लर्कों और आजकल के असंख्य प्रचलित व्यवसायों से जीवन का निर्वाह करने वाले लोगों पर, जिनकी कि हमारा अपने देश में भी कुछ कमी नहीं, दृष्टि डालें। इन सबका विशेष उद्देश्य यही है कि अपने अपने व्यवसायों के द्वारा चमकते हुए सोने का ढेर इकट्ठा करें। यह सोना प्रतियोगिता के रोग में ग्रस्त व्यावहारिक मनुष्य की विकृत दृष्टि को अति लुभायमान प्रतीत होता है। इन खेदजनक व्यवसायों के अस्तित्व के लिये उपकारशीलता या युक्तिसंगत उपयोगिता के आधार पर कोई युक्ति संगत समाधान ढूँढ़े से भी नहीं मिल सकता। इन व्यवसायों का कदापि जन्म न होता, यदि ये कुत्सित धन को लाने वाले न होते। मक्खियाँ गुड़ की डली पर इस कसरत से इकट्ठी होकर नहीं भिनभिनाती जिस कसरत से कि वकील और व्यापारी, वैद्य और ठेकेदार लक्ष्मी के मन्दिर में इकट्ठे होते हैं। यह बात अक्षरशः सत्य है कि रुपया एक ऐसा ईश्वर है जिसकी पूजा संसार के स्वामी ईश्वर से भी बढ़ कर हो रही है। केवल इतना ही नहीं, धन का डाह प्रायः सभी को लग रहा है। प्रत्युत सांसारिक धन का कमाना ही प्रधान विषय बन रहा है। एक ओर एक सुधारक होने का दम भरने वाला व्यक्ति स्वदेश की अत्यन्त दरिद्रता, और उसके फलस्वरूप चारों ओर फैले हुए क्लेश,

X President White's Address, appendix to Lectures on ``Light", by G. Thyndal Third edition 1892, pp. 238-239.

पाप और अपराध का दुखड़ा रो रहा है । स्वदेश को कला कौशल से शून्य देखकर उसे भारी दुःख हो रहा है । उसे सदा यही चिन्ता रहती है कि किसी प्रकार उसके देश की भौतिक समृद्धि के साधनों में सन्तोषजनक उन्नति हो सके । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह बड़ी मुश्किल से एक संस्था स्थापित करता है। परन्तु धन की पर्याप्त सहायता न पहुँचने के कारण वह इसको चला नहीं सकता। इस विफलता से उसे अवर्णनीय दुःख होता है । वह सुधारक एकान्त में बैठकर यों सोचता है :—

हमारा देश निर्धन है, क्योंकि हमारे पास धन नहीं, पाप और क्लेश फैल रहे हैं, क्योंकि हमारे पास धन नहीं, कला कौशल की उन्नति नहीं हो सकती क्योंकि हमारे पास धन नहीं, संस्थाएँ दीर्घजीवी और सफल नहीं हो सकती क्योंकि हमारे पास धन नहीं ।

चारों तरफ से धक्के खाकर यशस्काम सुधारक फिर धन के प्रश्न की ओर आता है । वह अपनी विशाल भौतिक बुद्धि को इसी प्रश्न के हल करने में लगाता है । अब उसको यह विचार सूझता है कि केवल व्यक्तिगत उत्साह से ही उसका देश धनवान हो सकता है, पर व्यक्ति बड़े बड़े कामों को बिना धन के कैसे हाथ में ले सकते हैं ? शायद यह प्रश्न और तरह से भी हल हो सकता है । वह स्वदेश में कलों का प्रचार करना चाहता है जिनसे धन दौलत खूब पैदा हो। परन्तु कलें महँगी हैं, और एक निर्धन देश उन्हें खरीद नहीं सकता। या दैवयोग से हमारा सुधारक रक्षित व्यापार का पक्षपाती (प्रोटेक्शनिस्ट) है तो वह कदापि यह पसन्द न करेगा कि स्वदेश का धन कलों आदि में बाहर जाए । उसकी यही कामना होगी कि स्वदेशी शिल्प कला की उन्नति और वृद्धि हो । सुधारक के दुर्भाग्य से प्रज्ञाहीन मानव-प्रकृति सुलभता पर गिरती है, इसलिये स्पर्धा सुधारक के ऐसी सावधानी से खड़े किये हुए व्यापार रक्षा के भवन को अपने भयानक कुल्हाड़े के साथ भूतलशायी कर देती है ।

अब जड़वादी तत्त्ववेत्ता को लीजिये । सभ्यता कैसी मनोहर वस्तु है । अतएव वह अपना दार्शनिक ज्ञान छाँटने की बाह्य रीतियों के अनुसार सभ्यता के प्रत्येक उपादान को अलग अलग करता है और मालूम करता है कि सभ्यता की सारी रचना धन के आधार पर है । वाष्पीय नौका (स्टीमर) लोकोमोटिव इंजन, तार और डाक के प्रबन्ध, छापेखाने और मेहनत बचाने वाली कलें, सब धन के शक्तिशाली और आश्रय

देनेवाले हाथ के बिना केवल कोयला, लोहा, और रेत जैसी निकम्मी चीजें ही रह जायँगी ।

अकेले सुधारक और तत्त्वज्ञानी की ही यह बात नहीं । राजनीति विशारद, राजमंत्री, पत्र सम्पादक, सार्वजनिक वक्ता सब के सब अन्त को इसी धन की समस्या पर आकर गिरते हैं । इस प्रकार सारा संसार क्या बातचीत और सम्भाषण में, क्या व्याख्यानों और सार्वजनिक सभाओं में, क्या गुप्त ध्यान और विचार की अवस्था में, बारम्बार "धन, धन" की ही ध्वनि निकालता है । यहाँ तक कि समाज की सारी रचना गूँज रही है और सारा वायुमण्डल इसी प्रकार के आभासों और शब्दों से भर रहा है ।

पाठक इस सभ्यता का दम भरने वाली समाज की अल्पकालिक दौड़ धूप और क्षणिक चेष्टा को ध्यान पूर्वक देखिये । क्या आप नहीं देखते कि कम से कम पचहत्तर प्रतिशतक मनुष्य जो सभ्य संसार में ख्याति लाभ करते हैं, उनका दारोमदार अधिकार की लालसा, भोगों (इन्द्रिय सुख) से प्रेम, मान से प्रीति, बड़े बनने की कामना, प्रतिष्ठा से प्रेम और दिखलावे से प्रीति पर होता है ? क्या कारण है कि स्वामी अपने सेवकों से आज्ञा का पालन कराता है ? क्या कारण है कि लोग सदा अपने से उच्च समाज के मण्डलों में विचरना चाहते हैं ? यह क्या बात है कि इतने रईस और राजे, रायबहादुर, या सरदार बहादुर की केवल खाली उपाधियों की प्राप्ति के लिये व्यर्थ भारी भारी खर्च प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं ? केवल अधिकार, उच्च पदवी, मान, प्रतिष्ठा दिखलावा और आनन्द के लिए । और कौन सा शक्तिशाली इञ्जन है, जो इन नीच, अपरिमित और स्वार्थपर कामनाओं के पूरा करने के लिये साधन उत्पन्न करता है ? वह धन है ।

फिर समाज के निचले स्तर की ओर ध्यान दीजिये, (निचले स्तर से मेरा अभिप्राय इन लोगों से है जो आचार की दृष्टि से नीचे हैं जरूरी नहीं कि वे सामाजिक दृष्टि से भी नीच हों) । देखो, सभ्य जीवन नामधारी सजीव शक्तियों की अन्धी दौड़ में मत्सरता, ईर्ष्या, स्पर्धा और प्रतियोगिता के भाव क्या काम कर रहे हैं ? प्रतिदिन बढ़ती हुई मुकदमाबाजी शिष्टजनों के आए दिन झगड़े, पुलिस और न्यायालयों की खराबियाँ, प्रतियोगिताओं में उम्मीदवारों को सफलता के लिये अपनी जान को जोखिम में डालना ये सब इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि मत्सरता, ईर्ष्या, स्पर्धा और प्रतियोगिता के नीच भावों ने जो कि मनुष्य के लिए कदापि

उचित नहीं, आधुनिक समाज में भारी गड़बड़ मचा रखी है। आप को ऐसा मनुष्य कहाँ मिलेगा जिसने अपनी उपकारशीलता से क्रोध और प्रतिहिंसा को दबा दिया हो ? इस सभ्य समाज में ऐसा मनुष्य मिलना बहुत कठिन है । शायद कोई दरिद्रता से पीड़ित, दुःखों से दबा हुआ–जिसको अपनी विद्रोही प्रकृति की आज्ञाओं का पालन करने के लिए साधन नहीं मिलते, परन्तु जो दुर्भाग्य से निराशा और विषाद में फँस गया है–दुःस्वप्न और अशान्ति से जीवन के दिन काटता इधर-इधर मिल जाए । यदि उसमें निर्दय सभ्य समाज से बदला लेने की शक्ति होती तो वह कदापि इससे न चूकता, पर वह विवश है । तो क्या ये सब शक्तिशाली धन के तेज से अपील नहीं करते ?

अनुकरण एक प्रमुख नियम है । इसी पर आधुनिक समाज का विशाल भवन खड़ा किया गया है । अनुकरण वह खम्बा है जिस पर कि समाज का प्रबल यंत्र ठहरा हुआ है । रीति, रिवाज, प्रचलित प्रणाली की चोट, और देह स्वभाव के डर का तो कहना ही क्या, जो सबके सब किसी न किसी प्रकार से पैतृक नियमों–अनुकरण से पैदा हुए हैं, धार्मिक विश्वास की बातों में या सम्मति देने की अवस्थाओं में भी संसार के नब्बे फीसदी मनुष्य उसी सर्वव्यापक नियम अनुकरण के अधीन हैं। अनुकरण की उसी वानर सदृश कार्य शक्ति के विषय में जे० एस० मिल साहब लिखते हैं–

हमारे समय में समाज की उच्चतम श्रेणी से लेकर नीचतम श्रेणी तक प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार रहता है मानो वह किसी विरोधी और भयानक नीतिशास्त्रता की देख-रेख के नीचे हैं । न केवल उन्हीं बातों में जिनका सम्बन्ध कि दूसरों से है प्रत्युत उन बातों में भी कौन जिनका सम्बन्ध कि खुद उन्हीं से है कोई व्यक्ति या परिवार अपने मन में प्रश्न नहीं करता कि मैं किस बात को अच्छा समझूँ ? या कौन सी बात मेरी प्रकृति या अवस्था के अनुकूल होगी ? या मुझमें जो सर्वोच्च और सर्वोत्तम है वह स्वतन्त्र कैसे रहेगा, या उसकी परिवृद्धि और विकास कैसे हो सकेगा ? वह अपने मन में प्रश्न करता है कि मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप क्या है ? मेरी स्थिति और आर्थिक अवस्था के लोग प्रायः क्या करते हैं ? या (इस से भी बुरा) मेरे से ऊँची स्थिति और अवस्था के लोग प्रायः क्या करते हैं ? मेरा प्रयोजन यह नहीं कि वे रिवाज को प्रवृत्ति से अच्छा समझते हैं । परन्तु वे रिवाज के सिवा प्रवृत्ति को और कोई वस्तु ही नहीं समझते । इस प्रकार उनका मन अपने आप

अनुकरण का जुआ अपनी गर्दन पर रख लेता है । मनोरंजन की बातों में भी वे सबसे पहले अनुरूपता का ख्याल करते हैं । वे समुदायों में रहते हैं । जो काम प्रायः लोग करते हैं उन्हीं में से वे किसी एक को पसन्द करते हैं । रुचि की विशेषता और आचरण की विलक्षणता से वे ऐसे भागते हैं मानो कि वे अपराधी हैं । यहाँ तक कि अपनी ही प्रकृति का अनुकरण न करने की चोटों से उनमें अनुकरण करने के लिये कोई प्रकृति ही नहीं रहती । उनकी मानुषीय धारण शक्तियाँ कुम्हलाकर नष्ट हो जाती हैं । वे किसी प्रबल आकांक्षा या प्राकृत सुख का आनन्द लेने में असमर्थ हो जाते हैं । और न ही उनमें प्रायः कोई अपनी राय या निज विचार होते हैं । अब बतलाएँ कि क्या मानव-प्रकृति की यह अवस्था वांछनीय है ?''

यह है अनुकरण की प्रबल शक्ति । कौन है जो इसके अलंघनीय प्रभाव का सामना कर सके ? क्या कोई व्यक्ति निमग्न व्यावहारिक संसार को वकीलों, वैद्यों, इन्जीनियरों, ठेकेदारों और अन्य व्यवसायियों को—धन के लिये पागल हुआ देख सकता है ? क्या कोई मनुष्य तत्ववेत्ताओं, राज-नीतिज्ञों, और देशानुरागियों को तेजोमय सुवर्ण का एक स्वर होकर गुणगान करते हुए सुन सकता है ? क्या कोई सभ्यता के उत्सुक प्रशंसक को लक्ष्मी देवी की सर्वशक्ति सत्ता को अंगीकार करते हुए देख सकता है ? क्या कोई सांसारिक सुख, शान्ति और हर्ष की गर्वित अभिलाषाओं को, अधिकार, प्रतिष्ठा, और उपाधि के यशस्काम प्रेमियों को, अर्थ देवता के मन्दिर में जल चढ़ाते देख सकता है ? क्या कोई क्रोध, प्रतिहिंसा, ईर्ष्या, स्पर्धा और मत्सरता इन सबको अपनी सन्तुष्टि के साधनों की प्राप्ति के लिये दौलत के दरबार में हाथ बाँधे खड़ा देख सकता है ? क्या कोई व्यक्ति ऐसा है जो यह सब कुछ देखता हुआ भी सोना रूपी परम प्रतापी सम्राट् के आगे राजभक्ति की सौगन्ध न उठाए ?

अनुकरण की चोट से मनुष्य, धन की तलाश में दाएँ से बाएँ धक्के खाता है । समाज एक भँवर के सदृश है जिसमें जीवन रूपी समुद्र के सभी तैराक फँस जाते हैं, और जोर से इधर-उधर फेंके जाते हैं । आज यहाँ गिरे तो कल वहाँ पड़े—यहां तक कि मनुष्य केवल एक धन कमाने वाली मशीन बन जाता है । क्या समाज की यह दशा शोचनीय नहीं है ?

देखो धन का प्रेम उच्च भावों का कितना खून करता है ? कर्त्तव्य

और स्वार्थ की आपस में मुठभेड़ है । धन की निग्रहकारिणी शक्ति सब बुराइयों की रक्षा करती है । उच्चतर मानव प्रकृति की आज्ञाओं की कुछ भी परवाह नहीं की जाती और उनको पाँव तले रोंदा जाता है । वैद्य और डाक्टर लोग शरीर धर्म विद्या के ज्ञान के प्रसार और स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का जनता में प्रचार के स्थान में सादा से सादा रोगों और औषधियों को विदेशी नामों के वेश में छिपाते हैं और उपचार लेखों (नुसखों) के गुप्त संकेत नियत करके उनके मिलाने और तैयार करने की विधियों को प्रकट नहीं होने देते । वैद्यों का असंख्य दल जो इस समय हमारे देश में मौजूद है, बुद्धिमत्ता के साथ रोगों की जड़ को उखाड़ने और तन्दुरुस्ती की सुन्दर कली को खिलाने के स्थान में दिन रात बड़े यत्न से यही प्रार्थना करता है कि धनवान् और शक्तिशाली मनुष्य सदा कसरत से रोगग्रस्त हुआ करें । वकील लोग शान्तिमय मित्रता के भाव उत्पन्न करने और मेल मिलाप को बढ़ाने के स्थान में झगड़े रगड़े को बढ़ाते और प्रतिहिंसक विरोध या गर्वित आवेश को चमकाते हैं । वणिक जनता के प्रयोजनों और आवश्यकताओं को पूरा करने और माँग और माल के नियम पर न्यायपूर्वक कार्य करने के स्थान में जो कुछ उन्हें मिल सके, सब लूट लेते हैं, बहुत थोड़ा देते हैं, अपने व्यापार की व्यवस्था पत्र गुप्त रखते हैं और अनभिज्ञ ग्राहकों को अशुद्ध माल देकर धोखा देते हैं । यहाँ तक कि उपदेशक और पादरी भी जिनका काम सीधी सादी सच्चाई और आचार की सांत्वना देने वाली बातें बताना और धार्मिक पुण्यशीलता और आध्यात्मिक प्रकार के पवित्र सुखों का फैलाना होना चाहिये, धन कमाने की बड़ी बड़ी युक्तियाँ पढ़कर ही प्रमुदित होते हैं, और अपने दीर्घ, अन्धकारमय, दम्भ दूषित धर्मोपदेशों को गुह्य प्रलाप के साथ लपेट देते हैं । ये ऐसे उपदेश होते हैं जिनको कि वे आप भी न समझते हैं और न समझ सकते हैं ।

इस प्रकार इतना ही नहीं कि समाज में जो रुपया इकट्ठा करने का सहजावबोध पैदा हो गया है, उसने वैद्य और उपदेशक सबको एक जैसा अपने कर्तव्य और व्यवसाय से पथभ्रष्ट कर दिया है । इससे अधिक और घोर पाप है जिनमें कि समाज केवल धन प्राप्ति के लिये ही डूबा हुआ है । एक धनवान् मदिरा विक्रेता या एक धनी तम्बाकू या अफीम बेचनेवाला बेरोक टोक मज़े से समाज में रहता है और

व्यवसाय के द्वारा फूलता फलता है, पर केवल धनाढ्य होने के कारण ही कोई उसे घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता। सहस्रों निर्धन निरपराध लोग उन अपराधों के लिये दोषी ठहराये जाकर जिनको कि उन्होंने कभी भी नहीं किया, दण्डित किये जाते हैं। परन्तु एक धनाढ्य अपराधी साफ अपराध प्रमाणित हो जाने पर भी रिश्वत, बात या सिफारिश रूपी शस्त्र रखने के कारण सर्वथा बच जाता है। यद्यपि कवि तत्त्ववेत्ता पुकार २ कर कह रहे हैं कि सब मनुष्य बन्धु हैं, यद्यपि विशुद्ध धर्म अपने निर्बल धीमे स्वर से यह उपदेश कर रहा है कि हम एक उच्च पिता की सन्तान हैं फिर भी धनी लोग निर्बलों और निर्धनों पर अपने लगातार अत्याचार उत्पात, अन्याय और दौरात्म्य से ऊँच नीच पैदा कर रहे हैं। धन के इस समारोह के कारण एक उपाधि धारी विद्यार्थी भी अपनी रुचियों को, प्रवृत्तियों को यदि कोई उसकी है, छोड़ देता है, और अपने अभिलषित व्यवसाय के लिये अपनी वास्तविक अयोग्यता को भलीभाँति जानता हुआ भी, डाक्टरों इञ्जीनियरों, वकालत और नौकरी पर पिल पड़ता है, और अपने दुष्ट व्यवसाय के परिणामों से संसार में तूफान मचा देता है। पत्र-सम्पादक जो अपने आपको लोकमत का नेता कहते हुए कभी लज्जित नहीं होता, निःसंकोच होकर अपनी आत्मा को बेच डालता है, और अपने सहायक दल का गुण गाता है। समाचार पत्रों के हीन गुण साहित्य, क्योंकि समाचार पत्रों का साहित्य बहुत क्रम सुधारने वाला, पुनर्जीवित करने वाला, या उच्च करने वाला होता है—को पढ़िये। आप देखेंगे कि उनका कितना थोड़ा भाग निर्दोष उपदेश, सच्चे नेतृत्व या न्याय और सत्य के अर्पण होता है, और कितना अधिक ईर्ष्या, भाव-भूयिष्ठता, जातीय और स्वार्थ पर पक्षपात और जानबूझकर मिथ्या वर्णन से भरा रहता है। उनकी सारी पुण्यशीलता और निरपेक्षता केवल दिखलावे और व्यवहार के लिए होती है और वास्तव में यह नीच स्वार्थपरता और झगड़ालू साम्प्रदायिकता के बदले में खरीदी जाती है। क्या यह मनुष्यत्व है ?

ऊपर के विचारों से यह परिणाम अपने आप निकलता है कि धन की प्राप्ति उन्माद की तरह का एक रोग है। जब तक इस विश्वव्यापी रोग का, जिसने कि इस समय समाज को घेर रखा है, और सदाचार और धार्मिक भावों की जड़ को काट रहा है, आधुनिक रोगनिदान-शास्त्र में उल्लेख न होगा यह शास्त्र अधूरा ही रह जायेगा।

इस रोग का नाम 'धन का डाह' रखना चाहिए, क्योंकि उन्माद के अन्य रूपों की तरह इसमें भी मानसिक समता नष्ट हो जाती है और विचार असंगत हो जाते हैं। इससे एक ही दिशा में अपरिवर्तनीय पक्षपात उत्पन्न हो जाता है। जो मानव प्रकृति को चेष्टा और उमंग के अन्य सब मार्गों से हटा लेता है और अन्ततः यह सारी शारीरिक रचना की ऐसी अत्युत्तेजित दशा बना देता है जो कि संयम या व्यापारों के स्वाभाविक अभ्यास से असंगत होती है। हैजा (विषूचिका) या इसी प्रकार के अन्य छूत के रोगों की तरह यह अपने सहायकारी बीज बहुलता से और दूर तक फैलाता है। इन चीजों को ग्रहणशील मानव-शरीर सुगमता से ग्रहण कर लेता है और संक्रामक रोगों की तरह यह भी पिता से पुत्र में, भाई से भाई में, और साथी से मित्र में सुगमता से संक्रमित हो जाता है। इसलिए—

धन का डाह उन्माद के सदृश एक रोग है जो बहुत शीघ्रता से उड़कर लगता है, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चला जाता है, असाध्य या दुःसाध्य है, और अतीव उग्र है।

इस विचार से कि हमारे गुणग्राही पाठकों को रोग-निदान में किसी प्रकार का कष्ट न हो हम नीचे इस रोग के मोटे-मोटे चिह्न देते हैं। इसके लक्षण ये हैं—तर्पणातीत पिपासा या यशस्तृष्णा, सदा भूखा आमाशय एक कफमय (उदासीनता से भरा हुआ) और कर्कश (चिड़चिड़ा) स्वभाव, पहले दर्जे की इन्द्रिय सूक्ष्मता और शीघ्रोपित्व, पाशविक और मानुषी विकारों का प्रबल अन्तर्दाह, अशान्ति, निद्रा का अभाव और चिन्ता, गर्व, शक्ति और ज्वर की सी अवस्था के आक्रमण, नैतिक और आध्यात्मिक कार्यशक्तियों का पक्षाघात, इन्द्रियातीत या अलौकिक अनुभवों के प्रति जड़ता, अधिक खाने, अधिक पहनने, आलस्य, विलासिता और सुख के लिए सीमातीत लालसा, बाह्य स्वाधीनता का बनावटी रूप व्यक्तिगत निर्बलता और क्षीणता।

अब हम अपने उत्सुक पाठकों से सचाई, न्याय और साधुता के नाम पर पूछते हैं कि क्या, जो रोग मनुष्य को पागल बना देता है, जो रोग कि वेदान्त की हँसी उड़ाता, चिन्ताशील ध्यान या तत्वज्ञान को घृणा की दृष्टि से देखता, और ब्रह्मविद्या को अव्यवहार्य असाध्य और अयुक्त समझ कर उसका परित्याग कराता है, जो रोग मनुष्य जाति के

नैतिक, युक्तिसंगत और आध्यात्मिक रीति से उन्नत और उच्च करने के सभी यत्नों को कल्पनात्मक बताकर कलंकित कराता है, जो रोग आत्मज्ञान को असंभव कहता है, जो रोग सदाचार को गिराकर औचित्य की सतह पर ले आता है, जो रोग विश्वपति की पूजा के स्थान में मूर्तिपूजा के एक अतिदीन और अतिनिकृष्ट रूप में तांबे, चाँदी और सोने की पूजा सिखाता है, जो रोग यह बतलाता है कि मनुष्य में खाने-पीने और रुपया कमाने के सिवाय और कोई प्रकृति नहीं, एक बार हम फिर पूछते हैं कि क्या ऐसे रोग को स्वयं जड़ से उखाड़ कर न फेंक देना चाहिए और इसको इस प्रकार न जला देना चाहिए कि यह फिर न उत्पन्न हो ? क्योंकि जब तक यह रोग विद्यमान है, सदाचार, धर्म, सच्चाई और तत्वज्ञान कोई भी नहीं रह सकता ।

धार्मिक विचारों के प्रवाह का नियम, निर्दोष मन, निरपेक्ष, सत्य पूर्ण प्रकृति, शान्त और अक्षुब्ध भाव, बलवान् उद्यमी बुद्धि और समाहृत ध्यान है। पर दौलत के लिए अन्धाधुन्ध दौड़ धूप इन्हीं सद्‌गुणों की जड़ को खोखला कर डालती है । चिन्ता और अभिमान, जो रुपया पास होने के कारण अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं, मन की शान्ति को नष्ट कर डालते हैं । जटिल सम्बन्ध में अनुराग, जो शक्ति पास होने से (रुपया शक्ति है) सदा उत्पन्न हो जाते हैं, थोड़ी बहुत रही-सही निरपेक्षिता और सत्यवादिता को भी दूर कर देते हैं। यहाँ तक कि चिन्ता के कारण अशान्त गर्व के कारण, कलहकारी और स्वार्थ के कारण पक्षपाती होकर मनुष्य एकाग्रता और निर्मल विचार दोनों की शक्ति को खो बैठता है ।

अहो ! स्वाधीनता, सच्ची और प्रकृत स्वाधीनता जिसमें मनुष्य अपनी परिस्थितियों और अवस्थाओं का दास नहीं रहता, प्रत्युत उनका स्वामी बन जाता है, कैसी उन्नति और सम्मान को देने वाली है और फिर भी मनुष्य में इस आनन्दमय अवस्था की वृद्धि और भाव को और कोई वस्तु इतना आघात नहीं पहुँचाती जितना कि धन का पास होना। जो मनुष्य अपने धन का घमण्ड करता है वह अवश्य ही अपने धन का दास है । हृष्ट-पुष्ट और तन्दुरुस्त मनुष्य सदा अपनी तन्दुरुस्ती का आनन्द लेता है । वह अपनी प्रकृति शक्ति से अनभिज्ञ नहीं और उस शक्ति के प्रयोग में जिस स्वतन्त्रता का अनुभव वह करता है। उस

पर उसे यथार्थ अभिमान है, ऐसे मनुष्य को जब कभी कहीं जाने की कामना होती है तो वह अपने जंगम उपकरण (टांगों) को काम में लाता है, जब वह अपने बल और वीर्य को तरोताजा करना चाहता है तो वह शारीरिक व्यायाम करता है, जब कभी उसे विश्राम की आवश्यकता होती है तो वह आकाश के शुद्ध वायु का सेवन करने या प्रकृति के दृश्यों का आनन्द लूटने के लिए बाहर चला जाता है, जब कभी उसे एक सच्चे मनुष्य की तरह अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा होती है तो वह ध्यानावस्थित होकर उच्च विचारों को बढ़ाता है, जब कोई रोग या गर्मी और सर्दी की अधिकता उसको सताती है तो वह अपनी स्वयं चिकित्सक प्रकृति की निन्द्रित और स्थित पालक शक्तियों को जगाता है। सारांश यह है कि जिन पदार्थों की उसको आवश्यकता पड़ती है वे प्रकृति ने स्वयं ही उसे पर्याप्त परिमाण में दे रखे हैं। पर धनाढ्य का सारा दारोमदार द्रव्य की भड़कीली चीज पर ही है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के लिए उसे गाड़ी का प्रयोजन है, वह पैदल नहीं चल सकता। स्वाभाविक स्वास्थ्य की चमक दमक के स्थान पर उसमें औषधियों के प्रभाव से या चिकित्सक वैद्यों की सहायता से तोंद निकली होती है, तन्दुरुस्त आमाशय और सादा भोजन होने के स्थान पर उसका भोजन देर से पचने वाला, उसका आमाशय निर्बल होता है, जिसे उसे पचाने के लिए ऊपर से तेज मदिरा पीने की आवश्यकता होती है। बाहर निकल कर प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लूटने के स्थान वह अपने कमरे की दीवारों पर निर्जीव निःशब्द चित्र लटकाता है। वह स्वाभाविक तितिक्षा के स्थान में पंखों को शीतल करने वाली शक्ति, आग को गरम करने वाला विशेष गुण, शरबतों को तरोताजा करने वाली शक्ति और मदिरा के उत्तेजित प्रभाव के पूर्णतः आश्रित रहता है। क्या यही स्वाधीनता है, जिसका अनुभव मनुष्य को करना चाहिए।

इस प्रवृत्ति के परिणाम केवल इसी सीमा तक नहीं बढ़े हैं। आधुनिक सभ्यता धन की गिरगिट की भाँति रंग बदलने वाले गुण के कारण पैदा हुआ एक दृश्य चमत्कार इस प्रवृत्ति के विश्रुत कार्यों से भरी पड़ी है। प्राचीन संसार ने बर्बर और असभ्य पैदा किए थे, क्योंकि वे वर्षा और वायु से अस्थायी रक्षा के लिए बनाई हुई केवल कुटियों या गुफाओं में प्रायः नंगे रहने वाले मनुष्य प्रकृति के बलवान् नमूने थे,

क्योंकि उनकी आवश्यकता थोड़ी होने के कारण उनकी कलाएँ सादी और गिनती की थी । क्योंकि प्रबल स्मरण शक्ति रहने के कारण उनका ज्ञान वही था जिसे वह कण्ठस्थ कर लेते थे, और प्रमाण देने के लिए उनकी पुस्तकें या पुस्तकालय उनकी स्मृति की तख्ती का अभ्रान्त लेख था, क्योंकि निर्मल मस्तिष्क रखने के कारण दृष्टान्त ऐसे साधारण और प्रसिद्ध होते थे कि उनकी युक्ति उथली प्रतीत होती है । क्योंकि बुद्धि के तीक्ष्ण होने के कारण वे उपमिति से युक्ति देते थे, इसलिए अवलोकन ही उनका ज्ञान था। सारांश, संसार जैसे मनुष्य आजकल उत्पन्न करता है वे उनसे सर्वथा भिन्न थे। आधुनिक संसार ऐसे सभ्य मनुष्य पैदा करता है जो "मनुष्य प्रकृति के दुर्बल नमूने हैं।" उनकी वास्तुविद्या विशाल और अधिक स्थायी है । इनकी कलाएँ जटिल और बहुसंख्यक हैं । इनकी स्मरण शक्तियाँ निर्बल, दूषित और अधिक अविश्वसनीय हैं । इनके पुस्तकालय इतने भारी हैं कि एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान में ले जाए नहीं जा सकते । इनके उदाहरण भारी और अपूर्ण है, क्योंकि उनको बपतिस्मा की रीति पर अस्पष्ट, संस्कृत और परिभाषिक भाषासरणि से वैज्ञानिक रंग में प्रकट किया जाता है । इनका तर्क आनुमानिक है, इनकी परीक्षा प्रयोग है, इनकी युक्ति सम्भाव्यताओं की कल्पना है । यह है नैतिक और मानसिक सभ्यता पर धन का बहुविस्तीर्ण प्रभाव ।

यदि धनाढ्य होने में इतनी दुष्ट प्रवृत्तियाँ और संदेहजनक परिणाम भरे पड़े हैं, तो इससे यह कल्पना न कर लेनी चाहिए कि जो प्रायः इसका उलट अर्थात् दरिद्रता कहलाती है, उसमें इनसे कुछ कम है। क्योंकि संस्कृत में कहा है—

बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ।

"ऐसा कौन सा पाप है जो दरिद्रता न करती हो ।" दरिद्रता से हमारा अभिप्राय उस कठिन भारी धातु के अभाव से नहीं जो दूसरे तौर पर सोना कहलाती है, (क्योंकि ताँबा, सोना, चाँदी ऐसे निर्जीव पदार्थों का सजीव आत्मा की शारीरिक, मानसिक और नैतिक समृद्धि पर क्या परिणाम हो सकता है) प्रत्युत हमारा अभिप्राय मन की दरिद्रता से है। क्योंकि जहाँ केवल धातु के अभाव की ही शिकायत हो वहाँ उसकी पूर्ति शारीरिक परिश्रम और मस्तिष्क चिन्ता की चिन्ताशील युक्ति से भलीभाँति की जाती है । परन्तु मन के आध्यात्मिक और सञ्चय में जो कि सारे उद्योग, बुद्धि प्रभाव, भद्रता और उपभोग सबका एक सा आधार

है, प्रकृत द्रव्य की कमी कैसे पूरी हो सकती ? संसार की भूल इस बात में है कि उसने सांसारिक गुह्य स्थूल वस्तुओं को किसी काम का ख्याल कर लिया है, और ऐसे द्रव्यों के बाहुल्य को सम्पत्ति का चिह्न समझ लिया है । सच्ची सम्पत्ति आत्मा का धन, और मन का चतुर्विध सहज गुणों से भरा होता है । वे सहज गुण ये हैं—स्वास्थ्य, इच्छा और शारीरिक बल का गुण, मानसिक शक्तियों का गुण, नैतिक और भावप्रधान सञ्चय का गुण। जिस व्यक्ति को इन मानसिक गुणों में से उचित भाग मिला है उसे चाहिए कि धातु के छोटे दो कठिन और गुरु चमकते हुए टुकड़ों को जो सिक्के के नाम से प्रसिद्ध हैं, तुच्छ समझ कर त्याग दें । क्योंकि मन की इस स्वाभाविक शक्तियों से काम लेने के अतिरिक्त और कोई स्वाधीनता, सच्ची स्वतन्त्रता और माहात्म्य नहीं । बुद्धि ही सर्वोपरि नियम है । मदोत्कट सिंह, महाकाय हस्ती, उग्र शार्दुल, भोंकने वाला भेड़िया, रक्त पिपासु शिकारी कुत्ता, मनुष्य की निग्रहकारिणी श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा धमकाये जाते हैं, वन के उच्छृङ्खल पशु पालतू बनाये जाते हैं, खानों से कठिन चट्टानें पृथक् की जाती हैं, पृथिवी के पेट से बन्द खजाने निकलवाये जाते हैं, प्रबल नदियों के मार्ग बदल दिया जाते हैं, जल प्रपातों की तीव्र शक्ति छीनकर घूमने वाली कलों को दी जाती है, आग और पानी से प्रतिक्षण ४० या ५० मील प्रति घण्टा के घोर वेग से लाखों मन बोझ खिंचवाया जाता है, आकाशस्थ बिजली को नोकदार वज्रशूलों के द्वारा कैद कर लिया जाता है, ये सब काम श्रेष्ठ बुद्धि के पथ प्रदर्शन और उपदेश के प्रताप से ही किये जाते हैं । केवल भौतिक ब्रह्माण्ड या पशु जगत् ही इस प्रकार बुद्धि की शक्ति द्वारा पराजित नहीं हुआ । स्वच्छन्द राजत्व धनवानों के प्रबल राज्य, जन्म के अभिमान, और वंश के गर्भ को भी तर्क के प्रजातन्त्र, ''मन के राजतन्त्र'' या ''बुद्धि के लोकसत्ताक'' शासन ने नीचा दिखलाया और अधीन किया है । और इससे बढ़कर जिन विद्यार्थियों के बाल वृद्धावस्था के कारण श्वेत हो चुके हैं, उन्होंने भी अपने आप ग्रहण किए हुए महत्त्व को छोड़कर श्रेष्ठतर बुद्धि वाले लोगों (चाहे वे तरुण ही क्यों न हों) के चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त की है । यहाँ तक कि उद्यमशील निपुण और चतुर मनुष्यों ने भी नवीन विचारों की सर्वशक्तिमत्ता के सामने सिर झुकाया है ।

अतएव यह बात चित्तपट पर भलीभाँति अंकित होनी चाहिए कि बुद्धिरूपी धन ही सच्चा धन है । यह अक्षय धन है । इसकी जितनी

पूजा और सम्मान किया जाये, थोड़ा है । भौतिक और जड़धन को हमें सबसे निकृष्ट समझना चाहिए । मनु भगवान् कहते हैं—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ।।

"सम्पत्ति, जन्म का माहात्म्य, आयु, व्यवसाय सम्बन्धी कौशल या निष्कपट उद्यम और ज्ञान (बुद्धि विभव) ये पाँच चीजें सम्मान के योग्य हैं, और इनमें पहली से पीछे वाली आदरणीय हैं ।" परिणाम यह निकलता है कि मानसिक ऐश्वर्य सबसे अच्छा धन है, और कि इसकी तलाश (जो कि धन की तलाश से सर्वथा विपरीत है) ही मनुष्य-प्रकृति की श्रेष्ठता के समुचित है । मन ही शक्ति का सच्चा उद्गम स्थान है, और विचार (या ज्ञान) ही सच्ची सम्पत्ति है, जिसके सामने शेष सबकुछ मिट्टी में मिलकर नष्ट हो जाता है । उपनिषद् कहती है—

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।

सच्ची शक्ति आत्मा से आती है और अमरत्व विचारों (बुद्धि) से प्राप्त होता है ।

(समाप्तम्)

ओइम्

आर्य समाज के नियम

१. सब सत्यविद्या और द्रो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है ।

२. ईश्वर, सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है । उसी की उपासना करने योग्य है ।

३. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है । वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये ।

६. संसार का उपकार करना, आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है—शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये ।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये । किन्तु सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालन में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।

●

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज कलकत्ता के संक्षिप्त विवरण एवं स्थायी क्रिया-कलाप

भारत के पूर्वाञ्चल में अनेकानेक धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों के केन्द्र विन्दु आर्यसमाज कलकत्ता की स्थापना १८८५ में हुई, किन्तु इसके स्थापना की पूर्वपीठिका इससे १३ वर्ष पूर्व ही बन गयी थी जब १६ दिसम्बर १९७२ को स्वामी दयानन्द का कलकत्ता आगमन हुआ। स्वामी दयानन्द ब्रह्मसमाजियों को ऋषि मुनियों की विचार धारा से अलग होते देख रहे थे। उन्होंने निराकार ईश्वर का वर्णन, वेदों की महिमा, मूर्तिपूजा का खण्डन इत्यादि सभी धार्मिक स्थलों का स्पर्श किया और लोग स्वामी दयानन्द के मिशन से बहुत प्रभावित हुए। यह सब संचित प्रभाव परवर्ती काल में आर्य समाज की संचित निधि की तरह काम आया।

शिक्षा प्रचार

आर्यसमाज ने सारे देश में स्कूल, कालेज, कन्या पाठशाला, गुरुकुल इत्यादि, का व्यापक बड़ा क्षेत्र बना लिया था। कम से कम कन्या और शूद्रों को शिक्षा देने में आर्यसमाज का प्रयास सर्वप्रथम और अद्वितीय रहा।

कलकत्ता इस विचारधारा से कैसे अछूता रह सकता था ? यहाँ के आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं के हृदय में शिक्षा की भावना बड़ी बलवती रही। उस समय कलकत्ता में ईसाई मिशन के स्कूल थे किन्तु हिन्दूसमाज में १०-१२ वर्ष की लड़कियों का विवाह अनिवार्य समझा जाता था। वहाँ लड़कियों के पढ़ने की बात उन्हें सीधा खीस्तान बनाने जैसी लगती थी। उस समय लड़कियों को शिक्षा देने की बात सोच ही कौन सकता था ? आर्यसमाज कलकत्ता के अधिकारियों में आर्य कन्या महाविद्यालय के संगठन के लिये दृढ़ भावना काम करने लगी थी।

स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की उसके १० नियम बनाये। उनमें अष्टम नियम है, अविद्या का नाश और विद्या की बृद्धि करनी चाहिए। नवम नियम है प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। तृतीय नियम है वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना - पढ़ाना और सुनना - सुनाना सब आर्यो

का परम धर्म है । इन्हीं नियमों को एक साथ पढ़ने से विद्या का प्रचार, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति को बोध और वेद प्रचार आर्य समाज के नियमों में सम्मिलित है ।

आर्य कन्या महाविद्यालय की स्थापना

सन् १८८३ ई० में दीपावली के दिन जब स्वामी जी का देहान्त हो गया तो स्वामी दयानन्द के भक्तों के मन में उनकी स्मृति को चिरस्थायी करने के लिये शिक्षणालय खोलने की बात आई थी । इसी क्रम में आर्य समाज कलकत्ता ने सन् १९०२ ई० में नाई टोला में कन्या विद्यालय खोला । आर्यसमाजी कार्यकर्ता, सेठ साहूकार दानी-दाता बहुमुखी प्रयास चला रहे थे । सन् १९०७ में आर्यसमाज के लिए भूमि ली गई । सन् १९१० ई० में आर्यसमाज का मन्दिर बना । इसी की एक कड़ी यह है कि १९०९ में कन्या विद्यालय का भवन खरीदा गया । सेठ श्री किशन लाल पोद्दार की सूचना के अनुसार सन् १९०९ ई० में कन्या विद्यालय का भवन बनाने के निमित्त एक सभा हुई जिसमें निम्न रूप से दानी सज्जनों ने दान की घोषणा की थी—

१)	श्री सेठ जुगल किशोर बिड़ला	२५००० रु०
२)	श्री सेठ छाजूराम चौधरी	२५००० रु०
३)	श्री सेठ जयनारायण पोद्दार	२५०००) रु०
४)	श्री तुलसीदत्त	२५०००) रु०

विद्यालय की लड़कियों ने एक ऐसा गीत प्रस्तुत किया जिससे सेठ श्री छाजूराम चौधरी ने घर जाकर २५,०००) की राशि को ५०.०००) कर दिया । सेठ श्री जुगल किशोर बिड़ला ने उक्त राशि के अतिरिक्त ७५.०००) देकर रानी बिड़ला की स्मृति में २० नं० विधान सरणी स्थित प्रसिद्ध आर्य कन्या महाविद्यालय का भवन बनवाया । कन्या विद्यालय के पृष्ठ भाग में जो भवन बना है उसके निर्माण में सेठ श्री गुरु प्रताप पोद्दार ने सेठ रघुमल चैरिटी ट्रस्ट से ७५,०००) दिलवाने का प्रशंसनीय कार्य किया । श्री गुरु प्रताप पोद्दार रघुमल चैरिटी ट्रस्ट के ट्रस्टी थे और उनके प्रयत्न से ही इस राशि का मिलना सम्भव हो सका था । मकान का स्वामी आर्य महिला शिक्षा मण्डल ट्रस्ट हैं । ट्रस्ट ने भवन में विद्यालय चलाया । इस समय आर्य कन्या महाविद्यालय माध्यमिक विभाग में लगभग ९५० छात्राएँ ४० अध्यापिकाएँ हैं तथा महर्षि दयानन्द कन्या विद्यालय जिसकी स्थापना १९८० में हुई इसी भवन में चलता है जिसमें लगभग २०० छात्राएँ एवं १५ अध्यापिकाएँ हैं ।

आर्य महिला शिक्षा मण्डल ट्रस्ट

आर्य महिला शिक्षा मण्डल ट्रस्ट कलकत्ता कन्या विद्यालय की उन्नति के लिये, साथ ही महिलाओं में बहुविधि शिक्षा प्रचार करने की दृष्टि से २४ सितम्बर १९३६ ई० को आर्य महिला शिक्षा मंडल ट्रस्ट के नाम से रजिस्ट्री करायी गयी। इस ट्रस्ट का मुख्य उद्देश्य कन्या विद्यालय को अच्छी तरह संचालित करना था। जिन व्यवितयों ने मण्डल का निर्माण किया था उनके नाम हैं—

१. सर छाजूराम जी चौधरी, २. रायबहादुर रलाराम, ३. सेठ जुगल किशोर जी बिड़ला, ४. सेठ नागरमल जी मोदी, ५. सेठ दीपचन्द्र जी पोद्दार, ६. लाला हंसराज गुप्त एम० ए०, बी० एल०, ७. श्री हरगोविन्द जी गुप्त इन आजीवन ट्रस्टी के अलावा ३ वर्षों के लिए मण्डल का ७ सदस्य आर्य समाज कलकत्ता द्वारा निर्वाचित होते हैं तथा मंत्री और प्रधान पदेन इस ट्रस्ट के सदस्य हैं। इस प्रकार वर्तमान में इस ट्रस्ट के आजीवन ट्रस्टी इस प्रकार हैं—श्री सेठ विश्वनाथ पोद्दार, श्री गजानन्द आर्य, श्री उमाकान्त उपाध्याय, श्री सीताराम आर्य, श्री देवीप्रसाद मस्करा, श्री रूलिया राम गुप्त, श्री ओमप्रकाश मस्करा एवं श्री छबीलदास सैनी सभी ट्रस्ट के आजीवन ट्रस्टी हैं। वर्तमान में इस ट्रस्ट के प्रधान श्री विश्वनाथ पोद्दार और मंत्री श्री ओमप्रकाश मस्करा हैं।

आर्य कन्या महाविद्यालय माध्यमिक की प्रबन्ध समिति में इस समय श्री सीताराम आर्य अध्यक्ष, श्री राजेन्द्रप्रसाद जायसवाल मंत्री एवं श्रीमती अंजना दूबे पदेन संयुक्त मंत्री हैं। सदस्यगण श्री विश्वनाथ पोद्दार, श्री छबीलदास सैनी, प्रो० उमाकान्त उपाध्याय, श्री रामस्वरूप खन्ना, श्री सुखदेव शर्मा, डा० अतुल नारायण, श्री उपेन्द्रनाथ राय, श्रीमती संध्या चटर्जी एवं श्रीमती सन्तोष मेहरोत्रा हैं।

आर्य कन्या महाविद्यालय (प्राथमिक विभाग)

आर्य कन्या महाविद्यालय प्राथमिक विभाग में १७ अध्यापिकाएँ एवं लगभग ५५० छात्राएँ हैं इसमें प्रथम से चतुर्थ श्रेणी तक की शिक्षा दी जाती है जिसमें वैदिक धर्म शिक्षा, संगीत, आवृत्ति खेलकूद एवं चित्रकला की भी शिक्षा दी जाती है। शिक्षा के माध्यम हिन्दी और बंगला हैं। इस समय हिन्दी विभाग में लगभग ४०० और बंगला विभाग में १५० छात्राएँ हैं। प्राथमिक विभाग की प्रबन्ध समिति में श्री सीताराम आर्य अध्यक्ष, राजेन्द्रप्रसाद जायसवाल मंत्री एवं श्रीमती सरोजनी शुक्ला जयन्ती दास, प्रो० उमाकान्त एवं श्रीमती

मनोरमा बनर्जी सदस्य हैं । माध्यमिक और प्राथमिक दोनों विभाग सरकारी सहायता प्राप्त है तथा दोनों विभागों में वैदिक शिक्षा दी जाती है ।

रघुमल आर्य विद्यालय

इस विद्यालय की स्थापना १९३६ ई० में की गई । इसका आरम्भिक नाम आर्य विद्यालय है । कन्याओं की शिक्षा की महत्ता को ध्यान में रखकर आर्य समाज के नेताओं कार्यकर्ताओं ने कन्या विद्यालय की स्थापना १९१२ में ही कर दी थी । बालकों के लिए विद्यालय का अभाव न था । किन्तु एक न्यूनता अवश्य ही खटकती थी । विशेष रूप से अछूत कहे जाने वाले वर्ग, के बच्चों के लिए कोई विद्यालय न था । आर्यसमाज वर्ण व्यवस्था गुण-कर्म स्वभाव से मानता है । जन्म से नहीं अतः आर्य समाजियों की निगाह में छूत अछूत का मसला केवल इस रूप में था कि अछूतों को कैसे वृहद् हिन्दू समुदाय का अंग बना लिया जाय । इन्हीं सब उद्देश्यों की भूमिका में सन् १९३६ ई० में आर्य विद्यालय की स्थापना हुई । इसकी स्थापना में इन सज्जनों का सहयोग रहा । १. श्री विष्णुदास जी बंसल, २. सेठ दीपचन्द पोद्दार, ३. हरगोविन्द गुप्त, ४. पं० श्री विद्या प्रसादजी, ५. श्री मूलचन्द अग्रवाल, ६. श्री किशनलालजी पोद्दार, ७. श्री लक्ष्मी प्रसाद जी ।

विद्यालय की प्रबन्धकारिणी समिति के अध्यक्ष श्री देवकीनन्दन पोद्दार एवं मंत्री श्री राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल तथा प्रबन्ध समिति के अन्य सदस्य है, श्री सुखदेव जी शर्मा प्रो० उमाकान्त उपाध्याय, श्री रामवृक्ष सिंह, श्री ताराशंकर तिवारी, श्री गोरख प्रसाद जायसवाल, श्री राधेश्याम जायसवाल, डा० अतुल नारायण, श्री विश्वनाथ जी पोद्दार एवं श्री रामचन्द्र सिंह यादव । इस समय विद्यालय में लगभग ६०० छात्र एवं १२ अध्यापक हैं ।

आर्य विद्यालय ट्रस्ट

विद्यालय के वर्तमान भवन जो ३३ सी, मदन मित्रा लेन में है, उसके इस स्वरूप में लाने का श्रेय जहाँ आर्य विद्यालय ट्रष्ट के उत्साही सदस्यों को है वहीं इसमें रघुमल टैरिटी ट्रस्ट के आदर्श दान का बड़ा महत्व है जो सेठ किशनलाल पोद्दार की सूझ बूझ एवं दूरदर्शिता से सम्भव हो सका था । आर्य विद्यालय ट्रस्ट के वर्तमान ट्रस्टी हैं । १—श्री विश्वनाथ पोद्दार, प्रधान २—श्री देवकीनन्दन पोद्दार, मन्त्री ३—श्री राजेन्द्रकुमार पोद्दार, ४—श्री नन्दलाल कानोड़िया, ५—श्री देवीप्रसाद मस्करा, ६—श्री सीताराम आर्य, ७—श्री रुलियाराम गुप्त । दो स्थान रिक्त है ।

रघुमल आर्य विद्यालय (प्राथमिक विभाग)

प्राथमिक विभाग में इस समय लगभग ४०० छात्र एवं ८ अध्यापक हैं। विद्यालय ७४, आमहर्स्ट रो में दिन के समय एवं ३३ सी मदन मित्रा लेन में प्रातः चलता है। माध्यमिक एवं प्राथमिक दोनों विभाग को सरकारी सहायता प्राप्त है। दोनों विभाग में वैदिक धर्म की शिक्षा दी जाती है। और प्रत्येक शनिवार को सामूहिक यज्ञ होता है एवं समय-समय पर विद्वानों के प्रवचन भी कराये जाते हैं।

क्रान्ति केन्द्र

आर्य समाज मन्दिर : आर्य समाज कलकत्ता की भूमि स्वदेशी आन्दोलन की भूमि रही है। यहाँ लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल जैसे स्वदेश भक्त क्रान्तिकारी राष्ट्रीय नेताओं के व्याख्यान हो चुके हैं। यह मन्दिर-निर्माण के पूर्व का इतिहास है। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अमर शहीद भगत सिंह दो - दो बार कलकत्ता प्रवास के दौरान आर्य समाज मन्दिर में केवल ठहरे ही नहीं थे वरन् यहाँ पर इस पवित्र वेद मन्दिर में क्रान्तिकारी न केवल निवास की दृष्टि से अपने को निरापद समझते थे अपितु कई-कई क्रान्तिकारी एक साथ इकट्ठे होकर क्रान्ति के कुछ कार्यों की योजना भी बनाते थे।

सहायता कार्य

१९३४ के बिहार के भूकम्प, १९४२ के मिदनापुर के समुद्री तूफान, बंगाल का अकाल, पूर्वी बंगाल का दुर्भिक्ष, साम्प्रदायिक दंगे में नोआखाली और त्रिपुरा में सहायता केन्द्र खोलना, हावड़ा स्टेशन पर शरणार्थी शिविर विलोनियाँ में केन्द्र खोलना एवं आर्यसमाज रिलीफ सोसायटी की स्थापना, पूर्वी बंगाल विस्थापितों की सहायता इत्यादि सहायता कार्य से आर्य समाज कलकत्ता का इतिहास भरा है। दिनांक २९-११-८९ को पण्डित प्रियदर्शन जी के निर्देशन में दिनाजपुर जिले के बाढ़ पीड़ितों में १६७ कम्बल बाँटे गये। काश्मीर विस्थापित सहायता में १२०००) की राशि, निःशुल्क नेत्र चिकित्सा के लिए १५००००) तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के लिए ५०००) के राशि दी गई तथा उत्तर काशी भूकम्प सहायता में ५०००) सदस्यों से ५०००) आर्यसमाज एवं ५०००) आर्य समाज रिलीफ सोसायटी से दिया गया गुरुकुल वैदिकाश्रम राउरकेला को ५०००) गुरुकुल आम सेना को

५०००) तथा गुरुकुल चण्डीपुर को ७००) प्रतिमाह दिया गया । इस वर्ष में तुफान पीड़ितों की राहत सामग्री का स्थानीय आर्यसमाजों के तत्वावधान में आर्यसमाज, मिदनापुर के सहयोग से वृहद रूप से वितरित किया गया । स्टेन लेस स्टील के बर्तन, कपड़े, दवाइयाँ, खाद्य पदार्थों का वितरण आर्य सदस्यों के उपस्थिति में श्री ओमप्रकाश विद्यावाचस्पति के नेतृत्व में हुआ ।

गंगासागर सेवा शिविर

इस साल हवड़ा आर्य समाज के गंगासागर सेवा शिविर में आर्य समाज कलकत्ता व आर्य स्त्री समाज कलकत्ता का विशेष सहयोग हुआ । बहुत संख्या में धार्मिक पुस्तकों को वितरण बहुत अच्छी मात्रा में हजारों की संख्या में हुआ। इससे आर्य समाज व वैदिक सिद्धान्तों का विशेष प्रचार हुआ ।

विद्यार्थी सहायता, उपदेशक सहायता

आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा विद्यार्थी सहायता, वैदिक धर्म के प्रचारक एवं उपदेशक सहायता, महिला कल्याण इत्यादि पर प्रचुर व्यय किया जाता है।

नि:शुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर

आर्यसमाज कलकत्ता पिछले १० वर्षों से आर्य समाज मन्दिर १९, विधान सरणी, कलकत्ता-६ में निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर का सफलतापूर्वक आयोजन करता रहा है, जिसमें मोतिया बिन्द का आपरेशन शहर के कुशल नेत्र शल्य चिकित्सकों द्वारा किया जाता है । शिविर के प्रधान सर्जन डा० श्यामसुन्दर हरलालका डा० नारायण चौधरी, डा० गोपाल प्रसाद चौरसिया, डा० रजनी सर्राफ तथा अन्य सहयोगियों में श्री विमल मिश्रा सुखदेव शाह का पूरा-पूरा सहयोग और मार्गदर्शन मिलता रहता है ।

शिविर में शहर के अलावा सुदूर ग्रामांञ्चलों से भी रोगियों को यहाँ लाकर उन्हें भी मुक्त आपरेशन की सुविधा दी जाती है । प्रतिवर्ष ५० से ६० रोगियों का सफलता आपरेशन करने के साथ ही उन्हें अन्य सुविधायें मुफ्त दी जाती है । सर्वप्रथम रोगियों को रक्तचाप, मधुमेह तथा अन्य शारीरिक जांच करके रोगियों की भर्ती की जाती है । शिविर में भोजन, दूध, फल दवाइयों की सुविधा के साथ-साथ शिविर के पश्चात् उन्हें चशमें आदि भी मुफ्त उपलब्ध कराये जाते हैं ।

द्वादश निःशुल्क नेत्र शल्य चिकित्सा शिविर '१९९८ ई०

(माइकोसर्जरी द्वारा)

आर्यसमाज, कलकत्ता की युवा शाखा द्वारा १२ वाँ निःशुल्क नेत्र शल्य चिकित्सा शिविर (माइक्रोसर्जरी द्वारा) दिनांक २ एवं ३ जनवरी १९९९ को सम्पन्न हुआ। डा० रजनी सर्राफ के निर्देशन में शहर के सुप्रसिद्ध डाक्टरों की टीम ने आपरेशन का कार्यभार सम्पन्न किया। इस कैम्प में मोतियाबिन्द के सत्तर आपरेशन हुए। सारे आपरेशन माइक्रोसर्जरी द्वारा कलकत्ता की युवा शाखा ने आर्यसमाज कलकत्ता एवं दानी दाताओं के सहयोग से सम्पूर्ण खर्च को वहन किया। इस कार्य में श्री दुर्गाप्रसाद सेठ एवं श्री राजमणि वर्मा का विशेष सहयोग रहा।

कैम्प का उद्घाटन इस वर्ष श्री सुल्तान सिंह (आइ०पी०एस०) द्वारा किया गया। इस कैम्प के शिविर सचिव श्री संतोष सेठ एवं शिविर प्रभारी विजय प्रकाश जायसवाल थे। युवा शाखा के अधिष्ठाता श्री अशोक सिंह द्वारा धन्यवाद ज्ञापन किया गया।

अधिष्ठाता श्री अशोक सिंह ने पिछले वर्षों की सेवा सुश्रुषा का मूल्यांकन करते हुए कहा कि हमलोग सेवा के क्षेत्र में धीरे-धीरे कदम बढ़ाते हुए असहाय समाज के लोगों को निरोग करें और उनकी सेवा कर सकें, यही ईश्वर से प्रार्थना है और भावी कार्यक्रम में वृक्षारोपण, रक्तदान शिविर अन्तर्विद्यालय देशभक्ति गीत प्रतियोगिता, शारदीय उत्सव सेवा शिविर, वैदिक साहित्य प्रचार शिविर योग शिविर, महर्षि महिमा गीत प्रतियोगिता, वाद प्रतियोगिता आदि का भी आयोजन शिविर को सफल बनाने में युवा शाखा सर्वश्री छोटेलाल सेठ, हीरालाल जायसवाल, प्रेमशंकर जायसवाल, मदनलाल सेठ, आनन्द प्रकाश गुप्त, शिवकुमार जायसवाल, वेदप्रकाश एवं अजय आर्य का योगदान सराहनीय रहा।

अर्थ संग्रह में सर्वश्री प्रेमचन्द जायसवाल, ध्रुवचन्द जायसवाल, दिलीप जायसवाल, राजमणि बर्मा, श्री दुर्गाप्रसाद सेठ, विजय प्रकाश जायसवाल, छोटेलाल सेठ, नन्दलाल सेठ, प्रदीप जायसवाल, दीपक आर्य, सुदेश जायसवाल, आनन्द प्रकाश गुप्त एवं सतीश आर्य आदि का योगदान सराहनीय रहा। सत्येन्द्र कुमार जायसवाल, संजय कुमार जायसवाल, कृष्ण कुमार जायसवाल, रंजीत झा, विवेक सेठ एवं रजू विशेष रूप से सेवा में संलग्न रहे।

आर्यसमाज कलकत्ता के प्रधान श्री लक्ष्मण सिंह ने अतिथियों का स्वागत किया एवं उन्हें वैदिक साहित्य भी भेंट किया।

४–नेत्रालय विभाग – आर्यसमाज कलकत्ता के युवा शाखा के

तत्वावधान में प्रति सोमवार को समय १० से ११ बजे प्रातः को दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के नेत्रालय विभाग में डा० सौमिक घोष द्वारा निःशुल्क नेत्र परीक्षण एवं चिकित्सा की जाती है।

इसके अतिरिक्त आर्य समाज कलकत्ता की युवा शाखा आर्य समाज कलकत्ता द्वारा आयोजित समस्त कार्यक्रमों में सहयोग प्रदान करते हुए महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करती रहती है।

श्रावणी पर्व एवं वेद सप्ताह सम्पन्न :

श्रावणी एवं वेद सप्ताह ८-८-९९ से १४-८-९९ (श्रावणी पूर्णिमा से श्रीकृष्ण जन्माष्टमी तक प्रतिवर्ष की भाँति समारोह उत्साहपूर्वक मनाया गया। प्रातःकाल ७ से ९ बजे तक ऋग्वेद पारायण वृहद् यज्ञ एवं सायं ७ से ९ तक भजन कीर्तन एवं वेद कथा का आयोजन किया गया। विषय था—कल्याण का पथ और कथाकार—आचार्य उमाकान्त उपाध्याय।

अन्तर्विद्यालय देश-भक्ति प्रतियोगिता — पं० रामप्रसाद विस्मिल जन्म शताब्दी वर्ष पर आर्य समाज कलकत्ता (युवा शाखा) द्वारा आयोजित की गयी। १५ अगस्त के पावन दिवस पर इस वर्ष का यह विशेष आयोजन समर्पित था स्वाधीनता संग्राम के अग्रणी योद्धा, आर्य समाज के सिद्धान्तों के प्रबल अनुयायी तथा महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त अमर शहीद पं० रामप्रसाद विस्मिल को। कार्यक्रम के रूप में प्रातः ९-३० यज्ञ, १० बजे ध्वजोत्तोलन, १०.३० पं० रामप्रसाद विस्मिल को श्रद्धांजलि, ११ बजे अन्तर्विद्यालय देश भक्ति गीत प्रतियोगिता जिसमें कलकत्ता महानगर के लगभग १५ विद्यालयों के छात्र-छात्राओं ने भाग लिया तथा अन्त में पुरस्कार वितरण किया गया। कार्यक्रम के अध्यक्ष थे प्रो० उमाकान्त उपाध्याय एवं कार्यक्रम का संचालन श्री अशोक सिंह ने किया।

इस व्याख्यान के विषय सात वेद मंत्रों पर आधारित थे एवं आचार्य पं० उमाकान्त उपाध्याय, ने बड़ी सुन्दर व्याख्या के माध्यम से इस वेद सप्ताह पर वेद का सन्देश जन-जन तक पहुँचाने का सुन्दर प्रयास किया। इस व्याख्यान सप्तक की लघु पुस्तिका आर्य समाज कलकत्ता ने छपा रखी थी तथा प्रत्येक श्रोता को उपलब्ध थी जिसमें वेद मन्त्र, भावार्थ एवं विचार बिन्दु प्रदर्शित किया गया था। श्री अशोक सिंह जी के प्रयास एवं परिश्रम से प्रत्येक दिन का व्याख्यान सारांश दैनिक पत्रों में प्रकाशित होता रहा है। इन व्याख्यानों का कैसेट भी प्रचारार्थ बनवाया गया।

श्री कृष्ण जन्माष्टमी

पर्व १४-८-९९ को आर्यसमाज कलकत्ता के प्रधान श्री लक्ष्मण सिंह की

अध्यक्षता में प्रातः १० से १२ बजे मनाया गया। इसके पूर्व ९ दिवसीय वेद पारायण पूर्णाहुति सम्पन्न हुई। श्री कृष्णजी के जीवन चरित पर प्रकाश डालने वालों में सर्वश्री पं० देवनारायण तिवारी, पं० रामनरेश शास्त्री, पण्डित उमाकान्त उपाध्याय, श्री महिपाल सिंह, श्री मनीराम आर्य, श्री चांद रतन दम्माणी, आचार्य ब्रह्मदत्त प्रमुख थे कार्यक्रम का संचालन आर्यसमाज कलकत्ता के मंत्री श्री श्रीराम आर्य कर रहे थे।

पुस्तकालय एवं बिक्री विभाग

आर्य समाज मन्दिर में प्रवेश करते ही दक्षिण पार्श्व में समाज का अपना वाचनालय है जिसके खुलने का समय प्रातः ८ से १२ बजे तक तथा सन्ध्या ४ से ८ बजे तक है। वाचनालय में देश में प्रकाशित विविध भाषाओं के समाचार पत्रों एवं सांस्कृतिक पत्रिकाओं की सुव्यवस्था है।

पुस्तकालय में सहस्रों पुस्तकें हैं। इनकी सूची समय-समय पर बनती सुधरती है। आर्य समाज में आरम्भ से ही पुस्तकालय रहा है। इसमें महत्वपूर्ण पुस्तकें क्रय करके दी जाती रही है। सदस्यों को पढ़ने के लिए पुस्तकें देने का अलग रजिस्टर है जिसमें सदस्यों की दी जाने वाली पुस्तकें इत्यादि अंकित कर दी जाती है।

जिस समय गोविन्दराम हासानन्द का प्रकाशन कार्य कलकत्ता में था उस समय पुस्तकालय में बिक्री विभाग खोला गया था। इस बिक्री विभाग में आज जो पुस्तकें आती है, नूतन साहित्य आर्य सदस्यों को उपलब्ध होता रहता है। आर्य समाज हजारों रुपयों का विनियोग पुस्तकों को खरीदने-बेचने में करता है। इस वर्ष श्री अच्छेलाल जायसवाल पुस्तकाध्यक्ष एवं श्री हीरालाल जायसवाल उप-पुस्तकाध्यक्ष है।

साप्ताहिक सत्संग

(१) रविवारीय साप्ताहिक सत्संग। (२) बाल सत्संग। (३) आर्य स्त्री समाज कलकत्ता महिला सत्संग।

महर्षि दयानन्द दातव्य औषधालय

महर्षि दयानन्द दातव्य औषधालय का प्रारम्भ प्रसिद्ध आर्य महोपदेशक ठाकुर अमर सिंहजी एवं महात्मा अमर स्वामी) के कलकत्ता में १९५९ में प्रचारार्थ आने के समय से सम्पन्न कराये गये कुछ कुछ कार्यों में एक है। ठाकुर अमर सिंह आयुर्वेद के कुशल जानकार थे। उस समय आर्यसमाज के कार्यालय का भार श्री दिनेश चन्द्र शर्मा पर था। इस प्रकार ठाकुर अमर सिंहजी और आयुर्वेद भास्कर श्री दिनेशजी शर्मा दोनों औषधालय के लिए सोने में सुहागा सिद्ध हुए। इनके सहयोग में श्री अमृतनारायण झा सहायक का कार्य

करने लगे । आर्यसमाज भवन में प्रवेश करते समय बायीं ओर दातव्य औषधालय की व्यवस्था का भार आर्यसमाज के किसी वरिष्ठ अधिकारी कार्यकर्ता पर रहता है । श्री छबीलदास सैनी, श्री रुलियाराम गुप्त, औषधालय की व्यवस्था और आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहयोग करते रहते हैं । औषधालय के वार्षिक विवरण को देखने से पता चलता है कि वर्ष में लगभग ३०,००० रोगियों की चिकित्सा की गयी । प्रतिदिन रोगियों की संख्या लगभग ८० रहती है । औषधालय पर वार्षिक व्यय ३०,००० के लगभग आता है, वर्तमान में औषधालय चिकित्सक कविराज श्री अमृतनारायण झा है । वे सूझ बूझ और लगन के साथ अधिकांश औषधियों का निर्माण आर्यसमाज मन्दिर में ही करते हैं । अधिकारियों में श्री छबीलदास सैनी औषधालय की व्यवस्था करते हैं । और दयानन्द धर्मार्थ औषधालय वर्ष १९९८-१९९९ ई० में रोगियों की संख्या २३६०० है । दैनिक उपस्थिति ७५ से ८० रहती है । इस वर्ष आय लगभग ५०००) और व्यय लगभग ३००००) है । मंहगाई के कारण दानी महानुभावों का सहयोग नितान्त आवश्यक है ।

रविवारीय साप्ताहिक सत्संग

आर्य समाज कलकत्ता के प्रमुख साप्ताहिक सत्संग में प्रत्येक रविवार को प्रातः यज्ञ पं० नचिकेता भट्टाचार्य के सान्निध्य में प्रातः ८ बजे से ९ तक होता है । सन्ध्या, हवन और भजन के साथ सत्यार्थ प्रकाश की कथा और फिर प्रमुख आध्यात्मिक उपदेश का कार्यक्रम रहता है । पुरुष, महिलायें सब मिलकर १५०-२०० तक की उपस्थिति रहती है । इस समय ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका की कथा का भार पण्डित रामनरेश शास्त्री जैसे स्वाध्यायशील, परम विद्वान् सिद्धान्त मर्मज्ञ के ऊपर है । आध्यात्मिक उपदेशों की कड़ी में व्याख्यान का भार पण्डित उमाकान्त उपाध्याय के ऊपर है । आर्यसमाज के अधिकारियों को इस बात का संतोष है कि विश्व विश्रुत विद्वान् पण्डित अयोध्या प्रसाद जी प्रसिद्ध वैदिक विद्वान पण्डित सुखदेवजी विद्यावाचस्पति, आचार्य पण्डित रामाकान्त जी शास्त्री की कड़ी में पण्डित उमाकान्त जी जैसे विद्वान प्रमुख व्याख्यान के लिए उपलब्ध हो गये हैं । पण्डित उमाकान्त उपाध्याय के व्याख्यान की अपनी अलग शैली है । गहन से गहन दार्शनिक बातों को भी बड़ी सहजता से अपने श्रोताओं में उतार देते हैं । बहुत से लोग तो केवल पण्डित जी के व्याख्यान सुनने के लिए आते हैं । आजकल कठोपनिषद मन्त्रों की व्याख्या चल रही है ।

बाल सत्संग

आर्यसमाज कलकत्ता अल्पवयः बालक-बालिकाओं में धार्मिक भावना के प्रचार की दृष्टि से बालक-सत्संग का आयोजन करता है । वर्षों से यह कार्यक्रम

पंडित प्रियदर्शनजी सिद्धान्त भूषण के सान्निध्य में होता था । उनके स्वर्गवास के बाद अब प्रसिद्ध विद्वान देवनारायण तिवारी बच्चों को संध्या अग्निहोत्र, भजन इत्यादि सिखाते हैं । इन्हीं से अभ्यास कराते हैं । बच्चों में पुरोगम पर्याप्त प्रिय है । वार्षिकोत्सव के समय बच्चों के इस प्रोग्राम का सार्वजनिक रूप से प्रदर्शन होता है, और उन्हें पुरस्कार भी दिया जाता है । बच्चों की संख्या बढ़ते रहना भी स्वाभाविक है किन्तु औसत में पचास के लगभग बच्चे इस कार्यक्रम में भाग लेते हैं ।

आर्य स्त्रीसमाज कलकत्ता

आर्य स्त्रीसमाज की स्थापना सन् १९५२ ई० में हुई । माता विद्यावती सभरवाल, श्रीमती वीरांबली मनचन्दा आदि ने उत्तर कलकत्ता की महिलाओं के लिये आर्यसमाज कलकत्ता में आर्य स्त्रीसमाज की स्थापना कर डाली । वर्त्तमान मे आर्य स्त्रीसमाज के सदस्यों की संख्या लगभग ५० है । श्रीमती कमला अरोड़ा इसकी प्रधान तथा श्रीमती सुमना आर्या इसकी मन्त्रिणी हैं ।

महिला सत्संग

आर्य समाज कलकत्ता का महिला सत्संग प्रत्येक बुधवार को अपराह्न में लगा करता है । संध्या, हवन, भजन, कथा, उपदेश आदरणीय पं० नचिकेता जी के देखरेख में सम्पन्न होते हैं ।

बंगला साहित्य प्रचार

आर्यसमाज कलकत्ता के सिद्धान्तों एवं वैदिक धर्म प्रचारार्थ आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा समय-समय पर बंगला पुस्तकों का प्रकाशन एवं वितरण किया जाता है । इसके अतिरिक्त और भी लघु पुस्तिका (ट्रैक्ट) का प्रकाशन होता रहता है । पूना प्रवचन (उपदेश मंजरी) का बंगला अनुवाद एवं आर्याभिविनय दयानन्द चरित का बंगला अनुवाद पण्डित प्रियदर्शन जी सिद्धान्त भूषण द्वारा अनुवादित आर्यसमाज कलकत्ता का इतिहास बंगला भाषा में छप चुका है । वैदिक अनुसंधान ट्रस्ट द्वारा सत्यार्थ प्रकाश बंगलानुवाद का द्वितीय संस्करण छप चुका है । जिसमें पण्डित प्रियदर्शन जी ने विशेष श्रम करके इसे अधिक परिष्कृत किया था । इस दिशा में अभी पं० नचिकेताजी कुछ पुस्तकों का अनुवाद तथा प्रकाशन में व्यस्त हैं । इस वर्ष पुस्तक मेले के अवसर पर यथार्थता, आमरा आर्य, वेदपरिचय, आर्यो उद्देश्य रत्नमाला, समाज विप्लव, प्राणायाम विधि आदि पुस्तकें बंगला भाषा में पुनः प्रकाशित हुई, जिनका श्रेय पं० नचिकेताजी को है जिनके अथक प्रयास से यह सम्भव हो सका ।

साहित्यिक कार्य

आर्यसमाज कलकत्ता ने प्रारम्भ से ही पर्याप्त साहित्यिक कार्य किया ।

प्रारम्भ में श्री गोविन्दराम हासानन्द जी आर्यसमाज के पुस्तकाध्यक्ष और मंत्री के पदों पर थे। उस समय ही साहित्यिक सेवा का कार्य प्रारम्भ हुआ वह निरन्तर बढ़ता ही गया। पं० अयोध्या प्रसाद पं० सुखदेव विद्यावाचस्पति, पं० रमाकान्त शास्त्री, ठाकुर अमर सिंह आर्य पथिक एवं पं० प्रियदर्शन द्वारा अनेकानेक साहित्य का सृजन किया गया। पं० उमाकान्त का साहित्यिक कार्य ''आर्य संसार'' के सम्पादन से आरम्भ होता है। इनके द्वारा लिखित पुस्तकें आर्यसमाज कलकत्ता से प्रकाशित हुई जिसमें भगवान श्रीकृष्ण, श्रावणी उपाक्रम, मूर्तिपूजा समीक्षा, अर्थशौच, आर्य समाज का परिचय, वेदों में गोरक्षा या गोवध, हन्सामत की मिथ्या वाणी, कम्युनिज्म के मोर्चे पर स्वामी दयानन्द, श्राद्धतर्पण, वेद में नारी, काशी शास्त्रार्थ : समीक्षा प्रमुख हैं। डा० योगेन्द्र कुमार शास्त्री का त्रैतवाद का उद्भव और विकास का प्रकाशन आर्य समाज कलकत्ता द्वारा किया गया। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में आर्यसमाज की देन प्रमुख स्थान रखता है। 'आर्य संसार' के विशेषांक के रूप में 'आनन्द-संग्रह एवं स्वामी नित्यानन्द के 'व्याख्यान माला' ग्रन्थ प्रकाशित हुए। बंगला भाषा एवं देवनागरी लिपि में मूल लेखक सत्यबन्धु दास द्वारा लिखित श्री दयानन्द चरित का बंगला एवं हिन्दी अनुवाद विशेषांक की कड़ी के रूप में प्रकाशित हुआ तथा तदनन्तर आर्य संसार के विशेषांक के रूप में धर्म का आदि श्रोत प्रकाशित हुआ था। गत वर्ष स्वामी दयानन्द सरस्वती का राजनीति दर्शन प्रकाशित हुआ है। इस वर्ष T.L. वासवानी लिखित Torch Bearer एवं प्रो०उमाकान्त उपाध्याय द्वारा लिखित ''व्यतीत के यश की धरोहर'' एवं स्वामी सर्वदानन्द के व्याख्यानों का संग्रह ''आनन्द-संग्रह'' का प्रकाशन किया गया। इसी कड़ी में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा लिखित धर्मवीर पं० लेखराम का जीवन चरित प्रकाशित हुआ। महात्मा नारायण स्वामी सरस्वती का उपनिषद् रहस्य विशेषांक में ईश केन एवं प्रश्न उपनिषदों की सारगर्भित व्याख्या छपी है। गत वर्ष वार्षिक विशेषांक के रूप में श्री स्वामी सत्यानन्द लिखित ''सत्य उपदेश माला'' का पुनः द्वितीय बार प्रकाशन हुआ। गत वार्षिकोत्सव पर विशेषांक के रूप में स्वामी ज्ञानाश्रम लिखित संकल्प सिद्धि प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित 'मेरे पिता' का प्रकाशन किया गया। गत वर्ष वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज के व्याख्यानों का संग्रह ''आनन्द संग्रह'' का पुनः प्रकाशन हुआ। इस वर्ष पं० गुरुदत्त लेखावली का प्रकाशन हुआ।

आर्य संसार मासिक पत्र

आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा मासिक पत्र का प्रकाशन पं० उमाकान्त उपाध्याय के सम्पादकत्व में होता है। यह व्यवसायिक पत्रिका नहीं है। इसका मूल्य नाम मात्र है। इसके प्रकाशन के पीछे अपने सहयोगियों से सम्पर्क

स्थापित रखने के साथ ही सैद्धान्तिक रूप में कुछ सेवा करनी है। साहित्य सेवा की दृष्टि से आर्य समाज कलकत्ता ने विभिन्न अनुपलब्ध साहित्य का प्रकाशन किया। इसका प्रकाशन नियमित रूप से १९५८ ई० से हो रहा है। इसी कड़ी में स्वामी ज्ञानाश्रम सरस्वती लिखित 'संकल्प सिद्धि' प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित 'मेरे पिता' एवं पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित "भागवत कथा" का प्रकाशन विशेषांक के रूप में हुआ। गत वर्ष आनन्द संग्रह का पुनः प्रकाशन हुआ। इस वर्ष पं० गुरुदत्त लेखावली का प्रकाशन हुआ।

विद्यार्थी सहायता

आर्यसमाज कलकत्ता विद्यार्थी सहायता के मद में प्रायः विद्यालयों एवं गुरुकुलों में पढ़ने वालों छात्रों को अपना सहयोग देता रहता है। वर्त्तमान में उड़ीसा के पानषोष स्थित गुरुकुल को आर्यसमाज द्वारा सहयोग दिया जा रहा है। दयानन्द कन्या गुरुकुल, आर्य गुरुकुल दयानन्द वाणी श्री उद्यान मधुबनी को, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हाथरस को छात्रवृत्ति दी जाती है।

पेय जल सेवा

विगत कई वर्षों से आर्यसमाज मन्दिर के समाने आर्यसमाज कलकत्ता के संरक्षण में श्रीमती महादेवी चैरीटेबुल ट्रस्ट की ओर से एक सुन्दर प्याउ चल रहा है।

विजयादशमी और दीपावली पर्वोत्सव

उपरोक्त उभय पर्वों के अवसर विशेष यज्ञ का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। विजयादशमी पर्व दिनांक ४-१०-९८ को श्री लक्ष्मण सिंह की अध्यक्षता के सम्पन्न हुआ, जिसमें वक्ता श्री पं० रामनरेश जी, पं० देवनारायण तिवारी, आचार्य ब्रह्मदत्त जी व्याकरणाचार्य, पं० अपूर्व शर्मा, पं० ओम प्रकाश विद्यावाचस्पति थे ऋषि निर्वाण दिवस १८-१०-९८ को प्रातः ९ बजे से ११ बजे तक श्री देवी प्रसाद मस्करा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ जिसमें यज्ञ के पश्चात् श्री अपूर्व शर्मा ने ऋषि के जीवन पर सुन्दर कविता एवं श्री अशोक सिंह ने भजन प्रस्तुत किया। प्रमुख विद्वानों में पं० आत्मानन्द शास्त्री, आचार्य उमाकान्त उपाध्याय ने स्वामी जी के जीवन एवं अवदान पर प्रकाश डाला।

इस अवसर पर सप्तमी से विजय दशमी तक आर्य समाज मन्दिर के सामने भव्य जल क्षेत्र एवं प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र का संचालन सायं ७ बजे से १२ बजे रात्रि तक किया गया जिसका आयोजन अपने उत्साही युवा सदस्य श्री छोटे लाल सेठ की देखरेख में हुआ जिसमें श्री प्रेमशंकर जायसवाल, श्री लक्ष्मीकान्त जायसवाल एवं बाल सत्संग के बच्चे बड़ी तन्मयता से सेवा कार्य

में जुटे रहे । इस अवसर पर श्री शिवकुमार जायसवाल एवं रणजीत सिंह ने पुस्तकों का स्टाल लगाया ।

बसन्त पंचमी पर्व

दिनांक २२ जनवरी शुक्रवार को बसन्त पंचमी पर्व श्री श्रीनाथ दास गुप्त की अध्यक्षता में मनाया गया । वक्ता श्री अवधेश कुमार झा, श्री मनीराम आर्य एवं श्री अशोक सिंह ।

महर्षि महिमा पर्व

कलकत्ता एवं हावड़ा की समस्त आर्य समाजों एवं आर्य बन्धुओं के सहयोग से इस वर्ष महर्षि महिमा पर्व महर्षि दयानन्द सरस्वती के जन्म दिवस फाल्गुन कृष्ण दशमी तिथि ११ फरवरी से ऋषि बोधोत्सव फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी १४-२-९९ को बड़े धूमधाम से मनाया गया । प्रतिदिन सायं ५-३० से ६-३० तक यज्ञ एवं ६-३० से ८-३० तक भजन व्याख्यान एवं महर्षि स्वामी दयानन्द के कृतित्व पर व्याख्यान हुए । १४-२-९९ को सामूहिक पारिवारिक यज्ञ का सम्पादन हुआ । जिसमें प्रत्येक परिवार अपने-अपने हवन कुण्ड समीक्षा सामग्री सहित उपस्थित था आर्य समाज कलकत्ता के ऊपरी छत पर लगभग १०० परिवारों ने मिलकर अपने ८० कुण्डों में आहुतियाँ देकर इस दिवस को ऋषि बोधोत्सव पर्व के रूप में मनाया । कार्यक्रम का संचालन आदरणीय विद्वान पं० उमाकान्त उपाध्याय कर रहे थे एवं पं० आत्मानन्द शास्त्री, पं० देवनारायण तिवारी, पं० नचिकेता, श्री गंगासागर तिवारी, पं० ईश्वर दत्त वैद्य, पं० मधुसूदन एवं पं० ओम प्रकाश विद्यावाचस्पति प्रभृति उपस्थित थे । बाहर से पधारे विद्वान आचार्य चन्द्रदेव शास्त्री, गुरुकुल कृष्णपुर, विशेष रूप से इस कार्यक्रम में आमंत्रित थे । सम्पूर्ण कार्यक्रम का संयोजन आर्यसमाज हावड़ा का था । और आर्यसमाज हावड़ा के प्रधान प्रमोद अगरवाल ने कार्यक्रम को सफल बनाने में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया ।

महर्षि महिमा पर्व कलकत्ता एवं हावड़ा की समाजों के सहयोग से प्रतिवर्ष ऋषि जन्मदिवस से बोध दिवस तक मनाया जाता है । और बारी-बारी से भिन्न-भिन्न समाज उत्तरदायित्व संभालती है । आगामी वर्ष का दायित्व आर्यसमाज मध्य कलकत्ता को दिया गया । तथा कलकत्ता मैदान में इस पर्व को मनाने का निश्चय किया गया है ।

आर्यसमाज स्थापना दिवस

दिनांक १८ मार्च १९९९ को आर्य समाज स्थापना दिवस कलकत्ते की समस्त इकाइयों की ओर से धर्मतल्ला स्थित शहीद मीनार में भव्य रूप से मनाया गया ।

इस कार्यक्रम के लिए आर्यसमाज जोड़ासाँकू को दायित्व दिया गया था। मंत्री श्री वीरबल आर्य ने अथक परिश्रम कर कार्यक्रम सफल बनाया। श्री ओमप्रकाश मस्करा का सहयोग इसमें सराहनीय था।

इस वर्ष स्थापना दिवस १८ मार्च १९९९ को शहीद मीनार मैदान में भव्य रूप से आर्यसमाज जोड़ासाँकू के वार्षिकोत्सव के साथ भव्य रूप से मनाया गया। जिसमें कलकत्ता एवं हावड़ा स्थित सभी स्थानीय आर्यसमाजों की ओर से आर्यसमाज कलकत्ता के मंत्री श्रीराम आर्य के कुशल संचालन श्री गजानन्द आर्य की अध्यक्षता में मनाया गया। समारोह के उद्घाटनकर्ता श्री सत्यनारायण बजाज एवं मुख्य अतिथि के रूप में श्री मोहन लाल तुलस्यान विद्यमान थे। समारोह के प्रधान वक्ता श्री देवी प्रसाद मस्करा ने अपने प्रभावशाली व्याख्यान से समारोह को सफल बनाया। इस अवसर पर दैनिक विश्वमित्र में आर्य समाज स्थापना दिवस समारोह के शीर्षक पूरे पृष्ठ की एक परिशिष्ट भी प्रकाशित की गयी थी। परिशिष्ट में आर्य समाज के सम्बन्ध में विभिन्न महापुरुषों की समितियाँ, आर्यसमाज के नियम विश्व में आर्य समाज का विस्तार स्थानीय आर्य समाजों की शिक्षण संस्थाएँ स्थानीय प्रमुख आर्य समाजों के अधिकारियों के नाम एवं परिचय स्थानीय सभी आर्यसमाजों की सूची आदि प्रकाशित हुई। अन्ध विश्वास और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष ही आर्य समाज शीर्षक से श्री गजानन्द आर्य का लेख जन्म-मरण रूपी दुःख सागर से तरने का उपाय शीर्षक से श्री देवी प्रसाद मस्करा का प्रभावी लेख विश्व देश और समाज को आर्य देन शीर्षक पं० देव नारायण तिवारी का लेख एवं पं० उमाकान्त द्वारा लिखित आर्यसमाज का परिचय यह भी प्रकाशित हुआ था। इस सम्पूर्ण पृष्ठ की परिशिष्ट मेसर्स ए० पी० जे० प्रा० लि० के सौजन्य से प्रकाशित हुई थी। इस समारोह के विभिन्न कार्यक्रमों की रूपरेखा और रिपोर्ट स्थानीय समाचार पत्रों में विधिवत् प्रकाशित हुई थी। इस समारोह का मुख्य दायित्व प्रबंध एवं खर्च का भार आर्यसमाज कलकत्ता ने वहन किया। आर्यसमाज स्थापना दिवस के कार्यक्रम का संयोजन मंत्री श्री श्रीराम आर्य ने किया।

नवशष्येष्टि पर्व

दिनांक २ मार्च को नवशयेष्टि पर्व एवं होलिकोत्सव पर्व प्रातःकाल आर्यसमाज बड़ाबाजार की ओर बिक्टोरिया मेमोरियल पार्क में मनाया गया। सायं ४ से ८ बजे तक आर्यसमाज कलकत्ता के सभागार में नवशयेष्टि पर्व के उपलक्ष में यज्ञ एवं प्रवचन का सुन्दर आयोजन किया गया। जिसकी अध्यक्षता आर्यसमाज कलकत्ता के प्रधान श्री लक्ष्मण सिंह ने की वक्ताओं में सर्वश्री देवनारायण तिवारी, मनीराम आर्य, परशुराम तोदी, कुलभूषण आर्य, अशोक

सिंह, राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल, श्री नन्दलाल सेठ, देवव्रत तिवारी एवं श्री नाथ दास गुप्त प्रमुख थे ।

रामनवमी पर्व

दिनांक २५-३-९९ को श्रीनाथ दास गुप्त की अध्यक्षता में प्रातः ८ से १२ बजे तक रामनवमी पर्व मनाया गया । जिसमें पं० देवनारायण तिवारी, श्री श्रीराम आर्य, श्री अशोक सिंह, आचार्य पण्डित उमाकान्त उपाध्याय ने मर्यादा पुरुषोत्तम, श्री रामचन्द्र के गुणों पर प्रकाश डाला ।

शुद्धि तिलक एवं विवाह संस्कार

इस वर्ष आर्य समाज मन्दिर में हमारे योग्य पुरोहितों द्वारा ८ शुद्धियाँ, २९ विवाह तथा ३६ वाग्यदान समारोह (तिलक समारोह) एवं २ अन्तर्जातीय विवाह कराये गये ।

स्थिर निधियाँ

(विद्यार्थी सहायतार्थ)

१—आर्य समाज कलकत्ता A/c सीताराम आर्य विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि २१०००) यह स्थिर निधि विद्यार्थी सहायता के लिये तत्कालीन प्रधान श्री सीताराम आर्य द्वारा २७-१-८६ को स्थापित करायी गई । इससे मिलनेवाला ब्याज विद्यार्थियों की सहायता निमित्त खर्च होता है ।

२—आर्य समाज कलकत्ता A/c गंगा देवी जायसवाल विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि ५०००) की १६-८-८५ को श्रीमती सावित्री जायसवाल द्वारा करायी गई । यह स्थिर निधि विद्यार्थी सहायता के लिए राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल के प्रयास से शताब्दी वर्ष के लपलक्ष्य में सर्वप्रथम स्थापित कराई गई ।

३—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्री जगन्नाथ कोले विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि १५०००) की दिनांक २४-३-८६ को आर्य समाज कलकत्ता द्वारा करायी गई जिसका निर्णय १९८६ के साधारण सभा के अनुसार है तथा इससे मिलने वाला ब्याज को विद्यार्थी सहायता के लिये खर्च किया जाता है ।

४—आर्य समाज कलकत्ता A/c बनारसी दास अरोड़ा विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि ५०००) की है तथा इससे मिलने वाला ब्याज को विद्यार्थी सहायता के लिए खर्च किया जाता है ।

५—आर्य समाज कलकत्ता A/c सावित्री देवी अरोड़ा विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि ५०००) की २९-१०-९१ को स्थापित कराई गई है तथा इससे मिलने वाले ब्याज से विद्यार्थी सहायता की जाती है ।

६—आर्य समाज कलकत्ता A/c सत्यनारायण गुलाबी देवी विद्यार्थी

सहायता स्थिर निधि ५०००) ३१-१-९३ को स्थापित करायी गई तथा इससे मिलने वाले ब्याज से विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

७—आर्य समाज कलकत्ता A/c राजाराम धनपति देवी जायसवाल विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि १००००) की श्री राजाराम जायसवाल द्वारा २४-२-९२ को विद्यार्थी सहायता के लिए स्थापित करायी गई है तथा इससे मिलने वाला ब्याज को विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

८—आर्य समाज कलकत्ता मेवालाल सुरेशचन्द्र विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि १००००) की २४-३-९२ में करायी गई तथा इससे मिलने वाले ब्याज को विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

९—आर्य समाज कलकत्ता A/c लक्ष्मण सिंह एवं विद्यावती सिंह विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि ५०००) की २४-३-९२ में स्थापित करायी गई इससे मिलने वाले ब्याज को विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

उपरोक्त ९ स्थिर निधियाँ स्टेट बैंक ऑफ बिकानेर और जयपुर में है तथा इससे अतिरिक्त निम्न ३ निधियाँ इलाहाबाद बैंक में है।

१०—आर्य समाज कलकत्ता A/c माया देवी विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि दिनांक ७-८-७९ को ५०००) की स्थापित कराई गई तथा इससे मिलने वाले ब्याज से विद्यार्थी सहायता में खर्च किया जाता है।

११—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्रीमती सुनीति देवी शर्मा संस्कृत भाषा सहायतार्थ स्थिर निधि ५०००) की दिनांक ११-१०-९१ को श्रीमती सुनीति देवी शर्मा द्वारा स्थापित करायी गई तथा इसके ब्याज से आर्य समाज कलकत्ता द्वारा संचालित विद्यालयों में संस्कृत भाषा की परीक्षा में प्रथम स्थान पाने वाले छात्र-छात्राओं को पुरस्कृत किया जायेगा।

१२—आर्यसमाज कलकत्ता A/c विद्यावती सभरवाल विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि १५०००) की यह स्थिर निधि स्व० श्रीमती विद्यावती सभरवाल की स्मृति में उनके पुत्र द्वारा स्थापित करायी गई है, जिससे मिलने वाले ब्याज से विद्यार्थियों की सहायता की जायेगी।

१३—आर्य समाज कलकत्ता A/c विद्यावती नन्दगोपाल दत्त विद्यार्थी सहायता स्थिर निधि २५-२-९५ को १२०००) की उनके स्मृति में प्राप्त दान से स्थापित कराई गई जिससे मिलने वाले ब्याज को विद्यार्थियों के सहायतार्थ खर्च किया जायेगा।

ऋषि लंगर

१४—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी ऋषि लंगर के लिए १-८-९७ को ५०००)।

१५—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्रीमती कमला अरोड़ा ऋषि लंगर के लिए २०-१०-९७ को ६०००) ऊपर लिखित दोनों निधियाँ का ब्याज ऋषि लंगर पर खर्च किया जायेगा ।

प्रकाशन फण्ड

१६—आर्यसमाज कलकत्ता A/c प्रकाशन फण्ड नाम की ४००००) की यह स्थिर निधि दिनांक १-८-९३ को आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा प्रकाशन के लिए स्थापित करायी गई है । इससे मिलने वाली ब्याज को वैदिक साहित्य के प्रकाशन पर खर्च किया जायेगा ।

१७—आर्यसमाज कलकत्ता A/c प्रकाशन फण्ड नाम की ६००००) की स्थिर निधि १-३-९० में आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा स्थापित करायी गई है तथा इससे मिलने वाले ब्याज को वैदिक साहित्य के प्रकाशन पर खर्च किया जायेगा ।

दयानन्द धर्मार्थ औषधालय

१८—आर्यसमाज कलकत्ता A/c नन्दगोपाल दत्त ५०००) की यह निधि श्रीमती विद्यावती दत्त द्वारा आर्यसमाज कलकत्ता को दी गई है । इस निधि से मिलने वाले ब्याज से दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के रोगियों को लिए दवा तैयार की जाती है ।

१९—आर्यसमाज कलकत्ता A/c गुरुदास शर्मा की स्थिर निधि ५१००) दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के लिए १-११-९२ को प्राप्त हुई ।

२०—आर्यसमाज कलकत्ता A/c हौसला देवी तिवारी स्मारक निधि द्वारा २००००) की एक स्थिर निधि दयानन्द धर्मार्थ औषधालय स्थिर निधि १२-५-९२ को हुई जिसके ब्याज से दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के रोगियों के दवा तैयार की जाती है ।

२१—आर्य समाज कलकत्ता A/c के० सी० सिंह दयानन्द धर्मार्थ औषधालय स्थिर निधि २५००) की श्री के० सी० सिंह द्वारा २०-७-९५ को स्थापित करायी गई इससे मिलने वाले ब्याज को औषधालय में खर्च किया जाता है ।

२१बी— श्री के० सी० सिंह द्वारा २५००) की स्थिर निधि दिनांक २०-२-९९ को दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के लिए स्थापित की गई ।

अतिथि सत्कार

२२—आर्य समाज कलकत्ता A/c यशवन्त चोपड़ा स्थिर निधि दिनांक १७-१२-८६ को ५०००) की प्राप्त हुई जिससे मिलने वाले ब्याज को

अतिथि सत्कार पर खर्च किया जाता है। तथा यह निधि स्टेट बैंक आफ बीकानेर एण्ड जयपुर में है।

वैदिक प्रचार सहायता कोष

२३—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वैदिक प्रचारक सहायता कोष २,००,०००) की यह स्थिर निधि आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा १-७-८६ को बनायी गई तथा इससे मिलने वाले ब्याज को वैदिक धर्म के प्रचारकों एवं विद्वानों के सहायता में खर्च किया जाता है।

२४—आर्यसमाज कलकत्ता A/c श्रीमती एवं श्री रामधनी जायसवाल वैदिक कोष स्थिर निधि ५१००) की है जो विद्वानों के सहायतार्थ प्राप्त हुई है तथा उससे मिलने वाले ब्याज को विद्वानों के सहायता में खर्च किया जाता है।

२५—आर्य समाज कलकत्ता A/c स्वास्थ्य एवं जनकल्याण दिनांक ४-४-८९ को आर्यसमाज द्वारा बनायी गई यह स्थिर निधि ६०,०००) की है इससे मिलने वाले ब्याज को जनकल्याण के लिए खर्च किया जाता है।

२६—आर्यसमाज कलकत्ता A/c स्वास्थ्य एवं जनकल्याण स्थिर निधि शताब्दी वर्ष में दीघा में स्वास्थ्य केन्द्र खोलने के निमित्त स्थापित कराई गई थी। अन्तरंग सभा ने निर्णय किया कि इससे मिलने वाले ब्याज को जनकल्याण एवं सेवा में खर्च किया जाय। यह निधि ५०,०००) रुपये की है।

उपरोक्त दोनों निधियाँ स्टेट बैंक आफ बीकानेर जयपुर में है। इनके अतिरिक्त निम्न दो स्थिर निधियाँ भी स्वास्थ्य एवं जनकल्याण में है जो इलाहाबाद बैंक में स्थापित कराई गई है।

२७—आर्यसमाज कलकत्ता A/c रामसुन्दर जायसवाल की स्थिर निधि ५०००) की है। दिनांक ७-७-८९ को प्राप्त हुई।

२८—आर्यसमाज कलकत्ता A/c रुपेश कुमार जायसवाल २५००) की स्थिर निधि ७-८-८९ को प्राप्त हुई तथा इलाहाबाद बैंक में इसकी निधि करा दी गई। जिससे मिलने वाले ब्याज को स्वास्थ्य एवं जनकल्याण में खर्च किया जाता है।

महिला कल्याण

२९—आर्यसमाज कलकत्ता A/c ईश्वरचन्द्र आर्य ११०००) की यह स्थिर निधि स्वर्गीय श्री ईश्वरचन्द्र आर्य द्वारा महिला कल्याण के लिए दिनांक २८-१-८६ को प्रदान की गई जिससे मिलने वाले ब्याज को महिलाओं के कल्याण पर खर्च किया जाता है।

३०—आर्य समाज कलकत्ता A/c महारानी महिला कल्याण स्थिर निधि ५,१००) की है तथा जिससे महिला कल्याण के लिए २३-९-९५ को श्री

रामधनी जायसवाल द्वारा प्रदान किया गया है। इस निधि में मिलने वाले ब्याज को महिलाओं के कल्याण पर खर्च किया जाता है।

वेद प्रचार

३२—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार ६०,००० की यह स्थिर निधि १-३-९१ में आर्य समाज कलकत्ता द्वारा बनाई गई है। जिससे मिलने वाले को वेद प्रचार पर खर्च किया जायेगा।

३३—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार ९०,०००) की यह स्थिर निधि आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा १-१०-९१ को वेद प्रचार के लिए बनाई गई है।

३४—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार १०,०००) की यह स्थिर निधि १४-१०-९१ को आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा बनाई गई जिससे मिलने वाले ब्याज प्रचार कार्य में खर्च किया जाता है।

३५—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार २५००) की स्थिर निधि आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा २२-११-९१ को १५,०००) यह स्थिर निधि वेद प्रचार के लिए बनाई गई जिससे मिलने वाले ब्याज को वेद प्रचार पर खर्च की जायेगी।

३६—आर्यसमाज कलकत्ता A/c वेद प्रचार आर्य समाज कलकत्ता द्वारा २२-११-९१ को १५०००) यह स्थिर निधि वेद प्रचार के लिए बनाई गई जिससे मिलने वाले ब्याज को वेद प्रचार पर खर्च की जायेगी।

३७—आर्य समाज कलकत्ता A/c लब्बूराम शोदपुर १०००) की यह स्थिर निधि सम्भवतः यह सबसे प्राचीन स्थिर निधि है इससे मिलने वाले ब्याज समाज के खर्च के लिए है।

वार्षिकोत्सव यज्ञ

३८—आर्यसमाज कलकत्ता A/c सरोज अरोड़ा १०,०००) की यह स्थिर निधि वार्षिकोत्सव पर यज्ञ के लिए है। इससे मिलने वाले ब्याज को वार्षिकोत्सव पर खर्च किया जाता है।

आर्य स्त्री समाज कलकत्ता

३९—आर्य समाज कलकत्ता A/c आर्य स्त्री समाज कलकत्ता ५,०००) की स्थिर निधि आर्य स्त्री समाज कलकत्ता के प्रयास से श्रीमती विद्यावती संभरवाल द्वारा स्थापित करायी गयी यह निधि ४-२-८० में आर्य स्त्री समाज कलकत्ता के लिए प्राप्त हुई।

४०— आर्य समाज कलकत्ता A/c ५,०००) की स्थिर निधि

९-११-९२ को आर्य स्त्री समाज कलकत्ता द्वारा स्थापित करायी गयी है। जिससे मिलने वाले ब्याज को आर्य स्त्री समाज द्वारा खर्च किया जायेगा।

दयानन्द धर्मार्थ औषधालय

४१-४३—आर्य समाज कलकत्ता। श्रीमती शांति प्रसाद ५,०००) श्रीमती सत्यदेव चोपड़ा ५०००) श्री शिवनन्दन प्रसाद ५,०००) की ये तीनों निधियाँ दयानन्द धर्मार्थ औषधालय के वास्ते दिनांक ३-६-९३ को प्राप्त हुई।

४४—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्री बनारसी दास अरोड़ा दयानन्द धर्मार्थ औषधालय स्थिर निधि ५,०००) दिनांक १८-१-८३ को प्राप्त हुआ।

४५—आर्य समाज कलकत्ता A/c श्री बनारसी दास अरोड़ा ऋषि लंगर वास्ते १०,०००) की स्थिर निधि यह १८-१०-९३ को प्राप्त हुआ।

वैदिक गुरुकुल सहायता स्थिर निधि

४६-४७—आर्य समाज कलकत्ता द्वारा (१) ५०,०००) और (२) ४०,०००) की स्थिर निधि बनाया गया। इसके ब्याज से गुरुकुलों को सहायता दी जाती है।

४८—स्व० श्रीमती केवला देवी आर्या की स्मृति में वैदिक गुरुकुल सहायता १००००) की स्थिर निधि श्री सीताराम आर्य ने कराया है।

४९—आर्य समाज कलकत्ता वैदिक गुरुकुल सहायता स्थिर निधि स्व० श्रीमती विद्यावती दत्त की स्मृति में ५०००) की उनके पुत्र द्वारा बनाया गया है।

५०—आर्यसमाज कलकत्ता A/c गुरुकुल सहायता स्थिर निधि दिनांक १०-३-९५ को ११,०००) स्व० शान्ति स्वरूप गुप्त की स्मृति में उनके पुत्र द्वारा प्रदान की गई दान राशि से स्थापित करायी गई इससे मिलनेवाले ब्याज से गुरुकुलों की सहायता की जायेगी।

५१—आर्यसमाज कलकत्ता A/c गुरुकुल सहायता स्थिर निधि ५०००) की दिनांक २०-२-९५ को श्री के०सी० सिंह द्वारा प्रदत्त दान से कराई गई है निधि दाता की इच्छानुसार इससे मिलनेवाले ब्याज को गुरुकुल सहायता में खर्च किया जायेगा।

५२—आर्यसमाज कलकत्ता। गुरुकुल सहायतार्थ स्थिर निधि आर्य समाज कलकत्ता द्वारा दिनांक २०-३-९५ को ५००००) की आर्य समाज कलकत्ता के फण्ड से स्थापित कराई गई इससे मिलने वाले ब्याज से गुरुकुल की सहायता की जायेगी।

५३—दिनांक १७-७-९५ को श्री मेवालाल जायसवाल श्रीमती पार्वती देवी जायसवाल के नाम पर १००००) की स्थिर निधि गुरुकुल सहायतार्थ किया गया ।

५४—श्री के० सी० सिंह द्वारा ५०००) की गुरुकुल सहायता स्थिर निधि २०-२-९९ को स्थापित कराई गई । इससे मिलने वाला ब्याज गुरुकुलों की सहायता में खर्च किया जायेगा ।

५५—श्री वृजमोहन ओबेराय द्वारा ५०००) की स्थिर निधि दिनांक ३०-३-९९ को गुरुकुल सहायता के लिये प्रदान की गई । इससे मिलने वाले ब्याज को गुरुकुल सहायता में खर्च किया जायेगा ।

आर्यसमाज कलकत्ता की अंतरंग सभा द्वारा नियुक्त उपसमिति स्थिर निधियों से मिले हुए ब्याज का उनके निधि दाताओं द्वारा निर्दिष्ट मदों में वितरित करने का निर्णय करती है ।

शोक प्रस्ताव

१. श्री ध्रुव अरोड़ा
२. श्री ऋषि मोहन मित्तल
३. श्री हरिमोहन जायसवाल
४. श्रीमती रामप्यारी खुराना
५. श्री जानकीदास नरुला
६. श्री रामकुमार अग्रवाल
७. श्री ओमप्रकाश आलमपुरिया
८. श्री विजयकुमार सैनी
९. श्रीमती प्राणपति मिश्रा
१०. श्रीमती सुन्दरा देवी आर्या
११. श्रीज्वाला प्रसाद जायसवाल

धन्यवाद ज्ञापन

आर्यसमाज कलकत्ता के कर्मठं कार्यकर्ताओं, अन्तरंग के सदस्यों एवं कर्मचारियों तथा आर्यसमाज के सहयोगियों के हार्दिक सहयोग से वर्तमान वर्ष का कार्य सफलतापूर्वक पूर्ण हुआ । अतः इन सभी महानुभावों के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए हम सबका हार्दिक धन्यवाद करते हैं ।

आशा है भविष्य में वैदिक सिद्धांतों के प्रचार निमित्त जो योजना बनाई जायेगी उसमें आप सबका पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा ।

श्रीराम आर्य
मंत्री

आर्य समाज कलकत्ता के प्रकाशन

पुस्तक विक्रेता, आर्य संस्थाओं, उपदेशकों को २५ प्रतिशत की छूट दी जाती है ।

हिन्दी

पुस्तक का नाम	लेखक/सम्पादक	मूल्य
१. युग निर्माता सत्यार्थ प्रकाश-संदर्भ दर्पण (ऐतिहासिक संदर्भ में सत्यार्थ प्रकाश की यात्रा का दस्तावेज)	प्रो० उमाकान्त उपाध्याय	७०.००
२. स्वामी दयानन्द का राजनीति दर्शन-- (स्वामी दयानन्द के राजनीतिक दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन)	डा० लाल साहेब सिंह	५०.००
३. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में आर्य समाज की देन (उन्नीस उत्कृष्ट निबंधों का संग्रह)	प्रो० उमाकान्त उपाध्याय द्वारा सम्पादित	१५.००
४. त्रैतवाद का उद्भव और विकास-- (त्रैतवाद और उसके उद्भव और विकास के वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने वाला दर्शन का शोधपूर्ण ग्रंथ)	डा० योगेन्द्र कुमार शास्त्री	२०.००
५. उपनिषद रहस्य- (ईश केन और प्रश्न उपनिषदों की सारगर्भित व्याख्या)	महात्मा नारायण स्वामी "सरस्वती"	२०.००
६. श्री श्री दयानन्द चरित (बंगला में लिखित जीवन चरित का नगरी लिप्यन्तर तथा हिन्दी अनुवाद)	श्री सत्यबन्धुदास	१०.००
७. महर्षि दयानन्द की देन (पुरस्कृत निबन्धों का अनुपम संग्रह)	आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा प्रकाशित	४.००
८. धर्मवीर पं० लेखराम (एक संन्यासी की दृष्टि में आर्य समाज)	स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती	८.००
९. आनन्द संग्रह (स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज के उपदेशामृत की अमर निधि)	वीतराग स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज	२५.००
१०. भाई परमानन्द (बलिदानी वंश के कुलदीपक की अमर कहानी)	श्री बनारसी सिंह	१०.००
११. धर्म का आदि स्रोत (Fountain Head of Religian का हिन्दी अनुवाद)	पं० गंगाप्रसाद जी	२०.००
१२. संकल्प सिद्धि (विचारों के संकल्प विकल्प का अनोखा चिन्तन)	स्वामी ज्ञानाश्रम	२०.००
१३. ज्योतिर्मय (श्रीयुत् टी.एल वासवानी द्वारा लिखित Torch Bearer का हिन्दी अनुवाद)	टी. एल. वास्वानी	३०.००
१४. सत्य उपदेश माला (स्वामी सत्यान्द सरस्वती के उपदेशों का संग्रह)	स्वामी सत्यानन्द सरस्वती	१५.००

१५.	कर्मकाण्डप्रो०	उमाकान्त उपाध्याय	६.००
	(सम्पादित पंच महायज्ञ एवं कर्मकाण्ड का विवेचन)		
१६.	आर्य समाज कलकत्ता का इतिहास--प्रो० उमाकान्त उपाध्याय		८०.००
	(आर्यसमाज कलकत्ता के शत वर्षीय इतिहास का सशक्त दस्तावेज)		
१७.	व्याख्यान	मालास्वामी नित्यानन्द सरस्वती अप्राप्त	७.००
	(स्वामी नित्यान्द सरस्वती के व्याख्यानों का संग्रह)		
१८.	मेरे पिता	प्रो० इन्द्रविद्या वाचस्पति	२५.००
	(अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्दजी से सम्बन्धित संस्मरण ग्रंथ)		
१९.	भगवत कथा	पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय	२५.००
	(वेद और उपनिषदों के आधार पर सात दिनों की कथा का उपक्रम)		
२०.	व्यतीत के यश की धरोहर	प्रो० उमाकान्त उपाध्याय	६०.००
	(महासम्मेलनों के संस्मरणात्मक आकलन)		
२१.	Torch Bearer	टी० एल० वास्वानी	३५.००

बंगला पुस्तकों का विवरण

१.	सत्यार्थ प्रकाश (ब)	५०.००
२.	ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (ब)	५०.००
३.	आर्येदिश्य रत्नमाला (ब)	२.५०
४.	आर्याभिविनय (ब)	५.००
५.	संस्कार विधि (ब)	१०.००
६.	दयानन्द चरित्र (ब)	१०.००
७.	वैदिक धर्म धारा (ब)	२०.००
८.	पूना प्रवचन (ब)	१०.००
९.	श्राद्ध परलोक (ब)	२.००
१०.	अशौच प्रेतलोक (ब)	२.००
११.	गुरुगिरि (ब)	२.००
१२.	वैदिक उपासना पद्धति (ब)	२.००
१३.	वेद परिचय (ब)	२.००
१४.	यथार्थता (ब)	४.००
१५.	सन्ध्योपासना (ब)	४.००
१६.	इहलोक परलोक (ब)	१.००
१७.	पुरीर जगन्नाथ ९ब)	१.००
१८.	समाज विप्लव (ब)	१०.००
१९.	पुराना व्यासदेव (ब)	८.००
२०.	विवाह संस्कार विधि (ब)	२.५०
२१.	साकार बाद (ब)	३.५०
२२.	प्राणायाम विधि (ब)	५.००

With Best Compliments of :

Jugal Bihani

INDO INDUSTRIES & COMMERCE

G. D. ENTERPRISE

IRON AND STEEL TRADERS
& ORDER SUPPLIERS

"MUKTI CHAMBERS"
4, CLIVE ROW,
4TH FLOOR, SUITE # 404
CALCUTTA - 700 001
☎ (O) 248-5307, 220-9247 (R) 241-3807

With Best Compliments Of :

Phone : 655-6953

Supreme Steel Products

95/32, DHARMTOLLA ROAD
GHUSURY, HOWRAH-711 107

Mfg. STEEL FURNITURE AND ALL SHEET METAL JOB.

With Best Compliments of :

SHANTI STEEL PROCESSORS

DECOILING, STRAIGHTENING & SHEARING OF
H. R., C. R., G. P. ALUMINIUM &
STAINLESS STEEL COILS

1, HEIGHT ROAD, (LOHA BAZAR),
LILUAH, HOWRAH
Phone : 655-6255
665-7826/27

आर्य समाज कलकत्ता, १९, विधान सरणी कलकत्ता-६ के लिए पं० उमाकान्त उपाध्याय, एम०ए० द्वारा प्रकाशित तथा एशोसियेटेड आर्ट प्रिन्टर्स ७/२, विडन रो, कलकत्ता-६ में मुद्रित ।